ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥

अच्युत

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

वर्ष १४ } पौष, २००४ { अङ्क १२

संरक्षक—गौरीशङ्करगोयनका-समर्पित निधि, काशी

अच्युत

७६८ पृष्ठोंका मूल्य--६)

[**नोट**—दूकानदारों तथा स्थायी ग्राहकोंके लिए २५% कमीशन काटकर ४॥)]

सम्पादक तथा प्रकाशक—
पं० श्रीकृष्णपन्तशास्त्री साहित्याचार्य,
अच्युत ग्रन्थमाला-कार्यालय, ललिताघाट, काशी ।

सूचना

इधर कई महीनोंसे 'अच्युत' अनेक अनिवार्य कारणोंसे निर्धारित समयपर नहीं निकल रहा है, जिसका हमें अत्यन्त खेद है। हमने अनेक वार चेष्टा भी की किन्तु हड़ताल, दंगे, कागज आदिकी असुलभता और प्रेसोंकी अत्यधिक व्यस्तता आदि सर्वविदित अड़चनोंसे हम सफल न हो सके। हम अपनी व्यवस्थाको भी सर्वथा निर्दोष नहीं कह सकते, थोड़ी बहुत त्रुटि उसमें भी रही है। हमें सदा ही पिछड़े अङ्क भेजना अत्यधिक खलता रहता है। इसलिये हमारी प्रबन्ध-समितिने निश्चय किया है कि १४ वें वर्षका अन्तिम (१२ वाँ) अङ्क ग्राहक-महोदयोंके समीप भेजनेके उपरान्त १५ वें वर्षका प्रथम अङ्क आश्विन पूर्णिमा (संवत् ·००५) से आरम्भ किया जाय और भविष्यमें प्रत्येक पूर्णिमाको अङ्क प्रकाशित कर दिया जाय। उक्त निश्चयके अनुसार अच्युतके १५ वें वर्षका प्रथम अङ्क आगामी आश्विन पूर्णिमाको प्रकाशित होगा।

हमारा ग्राहकमहोदयोंसे विनम्र निवेदन है कि जिन सज्जनोंसे हमने अप्रिल मासमें पृष्ठ संख्या ४६८३ से ७६८ पृष्ठोंका मूल्य ४।।।) वी० पी० द्वारा प्राप्त किया है, उनके पास हम तबसे २८० पृष्ठ भेज चुके हैं, अब उनका हमारे पास ४८८ पृष्ठोंका मूल्य २।।।-)।।। शेष है। जो सज्जन निर्वाण प्रकरणसे ही ग्राहक बने हैं और लगातार तीन बार ४।।) मनिआर्डरसे भेज चुके हैं अथवा ४।।।) की वी० पी० छुड़ा चुके हैं, उनका हमारे पास अब केवल ।)।।। शेष है। और जो सज्जन १५ वें वर्षका चन्दा भेज चुके हैं वे दूसरी सूचना निकलने तक चन्दा भेजनेकी कृपा न करें। १५ वें वर्षके आरम्भसे ४।।) रु० वार्षिक चन्दा हो जायगा, पृष्ठोंका हिसाब नहीं रहेगा। प्रतिवर्षके १२ अङ्क पहुँच जानेपर ४।।) चन्दा समाप्त हो जायगा। जो सज्जन १५ वें वर्षका चन्दा मनिआर्डरसे भेजें वे यदि हमारे पास जमा अपनी रकमको बाद कर भेजनेकी कृपा करें तो बहुत उत्तम हो, ऐसी प्रार्थना है।

विनीत—

व्यवस्थापक
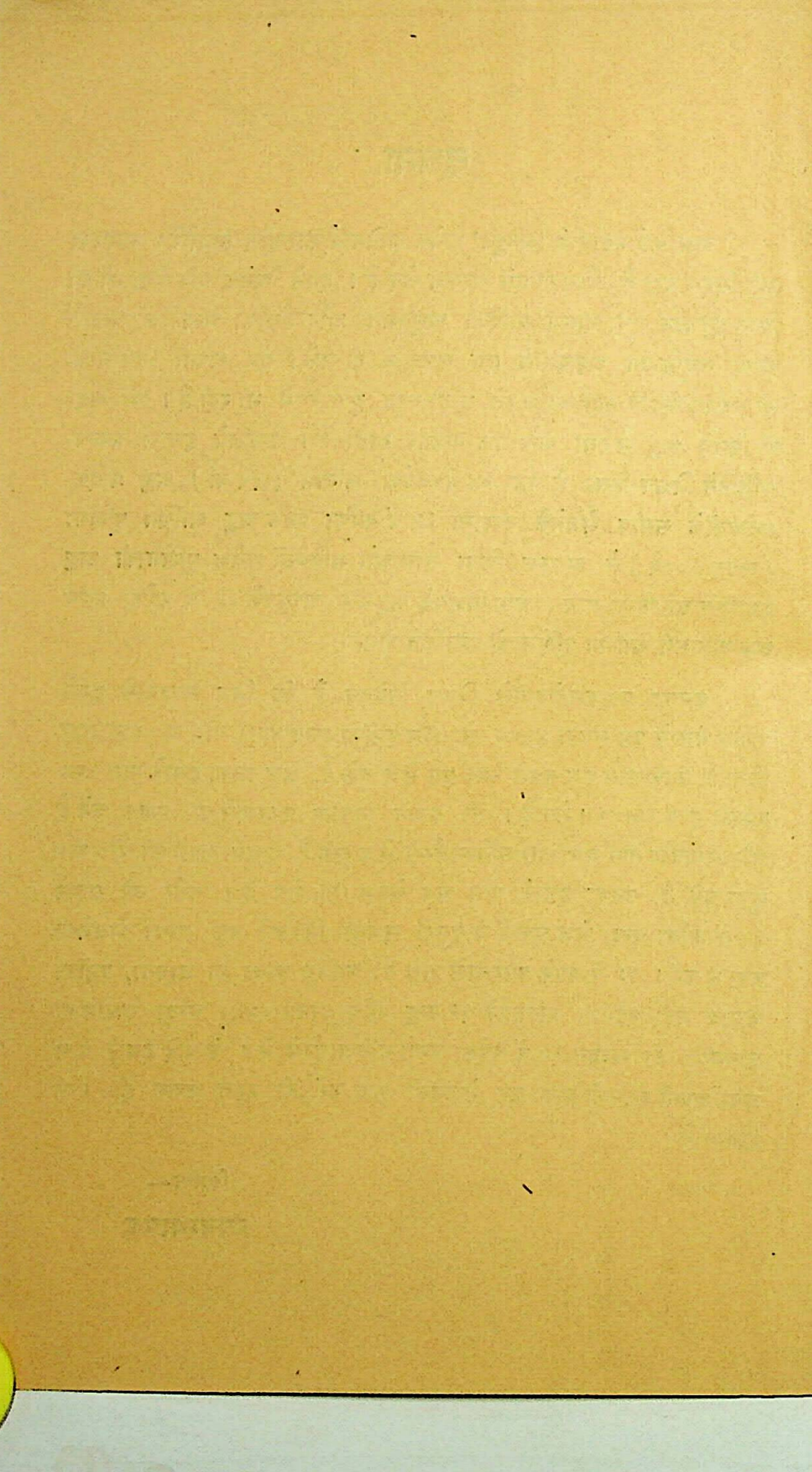
ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ।
तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥

तन्वन् श्रीश्रुतिसिद्धसन्मतमहाग्रन्थप्रकाशप्रथाम् ,
ब्रह्माद्वैतसमिद्धशङ्करगिरां माधुर्य्यमुद्भावयन् ।
अज्ञानान्धतमिस्ररुद्धनयनान् दिव्यां दृशं लम्भयन् ,
भक्तिज्ञानपथे स्थितो विजयतामाकल्पमेषोऽच्युतः ॥

वर्ष १४ } पौष, २००४ { अङ्क १२

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

शिवस्तुतिः

कृत्स्नस्य योऽस्य जगतः सचराचरस्य कर्ता कृतस्य च तथा सुखदुःखहेतुः ।
संहारहेतुरपि यः पुनरन्तकाले तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१॥
यं योगिनो विगतमोहतमोरजस्का भक्त्यैकतानमनसो विनिवृत्तकामाः ।
ध्यायन्ति निश्चलधियोऽमितदिव्यभावं तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥२॥
यश्चेन्दुखण्डममलं विलसन्मयूखं बद्ध्वा सदा प्रियतमां शिरसा बिभर्ति ।
यश्चार्धदेहमददाद्गिरिराजपुत्र्यै तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥३॥
योऽयं सकृद् विमलचारुविलोलतोयां गङ्गां महोर्मिविषमां गगनात् पतन्तीम् ।
मूर्ध्नाऽऽददे स्रजमिव प्रतिलोलपुष्पां तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥४॥
कैलासशैलशिखरं प्रतिकम्प्यमानं कैलासशृङ्गसदृशेन दशाननेन ।
यः पादपद्मपरिवादनमादधानस्तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥५॥
येनासकृद्दितिसुताः समरे निरस्ता विद्याधरोरगगणाश्च वरैः समग्राः ।
संयोजिता मुनिवराः फलमूलभक्षास्तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥६॥
दग्ध्वाऽध्वरं च नयने च तथा भगस्य पूष्णस्तथा दशनपङ्क्तिमपातयच्च ।
तस्तम्भ यः कुलिशयुक्तमहेन्द्रहस्तं तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥७॥
एनस्कृतोऽपि विषयेष्वपि सक्तभावाः ज्ञानान्वयश्रुतगुणैरपि नैव युक्ताः ।
यं संश्रिताः सुखभुजः पुरुषा भवन्ति तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥८॥
अत्रिप्रसूतिरविकोटिसमानतेजाः संत्रासनं विबुधदानवसत्तमानाम् ।
यः कालकूटमपिबत् समुदीर्णवेगं तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥९॥
ब्रह्मेन्द्ररुद्रमरुतां च सषण्मुखानां योऽदाद्वरांश्च बहुशो भगवान् महेशः ।
नन्दिं च मृत्युवदनात्पुनरुज्जहार तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१०॥
आराधितः सुतपसा हिमवन्निकुञ्जे धूम्रव्रतेन मनसाऽपि परैरगम्यः ।
संजीवनीं समददाद् भृगवे महात्मा तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥११॥
नानाविधैर्गजविडालसमानवक्त्रैर्दक्षाध्वरप्रमथनैर्बलिभिर्गणौघैः ।
योऽभ्यर्च्यतेऽमरगणैश्च सलोकपालैस्तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१२॥
क्रीडार्थमेव भगवान् भुवनानि सप्त नानानदीविहगपादपमण्डितानि ।
सब्रह्मकानि व्यसृजत्सुकृताहितानि तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१३॥
यस्याखिलं जगदिदं वशवर्ति नित्यं योऽष्टाभिरेव तनुभिर्भुवनानि भुङ्क्ते ।
यः कारणं सुमहतामपि कारणानां तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१४॥
शङ्खेन्दुकुन्दधवलं वृषभप्रवीरमारुह्य यः क्षितिधरेन्द्रसुतानुयातः ।
यात्यम्बरे हिमविभूतिविभूषिताङ्गस्तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१५॥
शान्तं मुनिं यमनियोगपरायणं तैर्भीमैर्यमस्य पुरुषैः प्रतिनीयमानम् ।
भक्त्यानतं स्तुतिपरं प्रसभं ररक्ष तं शङ्करं शरणदं शरणं व्रजामि ॥१६॥

—पद्मपुराणस्था

योगवासिष्ठ

अनुवादक--पं० मूलशङ्कर शास्त्री व्यास

विषय - सूची

कल्लोलैरुह्यमानानां नृणां संसारसागरे ।
अज्ञाता दिवसा यान्ति तृणानामिव बिन्दवः ॥ २३ ॥

श्रीराम उवाच

जगत्पूर्वं लतेवाऽपि विश्रान्ता वितते पदे ।
पूर्वापरविचारेण के परामावदर्शिनः ॥ २४ ॥

वसिष्ठ उवाच

जातौ जातौ कतिपये व्यपदेश्या भवन्ति ते ।
येषां यान्ति प्रकाशेन दिवसा भास्वतामिव ॥ २५ ॥

सत्-शास्त्र और सद्गुरु दोनोंका जल्दीसे जल्दी आश्रयण करना चाहिए, क्योंकि आयुष्य विश्वासयोग्य नहीं, इस आशयसे कहते हैं—'कल्लोलै०' इत्यादिसे।

रामजी, संसारसागरमें मनरोधरूपी तरङ्ग परम्पराओंसे बहे जा रहे मनुष्योंके दिन ऐसे अलक्षित रूपसे व्यतीत हो जाते हैं, जैसे तिनकोंके अग्रभागपर लटके हुए जलबिन्दु ॥ २३ ॥

भोगोंकी तृष्णाएँ अति प्रबल हैं, अतः उनसे विरक्त मुमुक्षु दुर्लभ हैं, उनमें भी परमात्माके स्वरूपको प्रत्यक्ष करनेवाले श्रेष्ठ पण्डित, जिनका आपने उल्लेख किया है, अतिदुर्लभ हैं, इस अर्थको विस्तारसे सुननेके लिए श्रीरामजी पूछते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—गुरुवर, अतिविस्तृत परमब्रह्मरूप पदमें पहलेसे ही प्राणियोंकी भोग-तृष्णा जगद्रूप हजारों वृक्षोंके वितनोंके जालका विस्तार कर, लताके सदृश, स्थित है । ऐसी स्थितिमें पूर्वापर जगत्स्वरूप अनर्थके विचार तथा सारासारके विचार द्वारा परमार्थदर्शी श्रेष्ठ विद्वान्, जिनका आपने कथन किया, कौन होंगे अर्थात् ऐसे विद्वान् ही अत्यन्त दुर्लभ हैं ॥ २४ ॥

सत्य है, ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं, फिर भी मनुष्य, गन्धर्व, देव, दानव आदिमें प्रयत्नपूर्वक खोजनेसे वैसे विद्वान् मिल सकते हैं, ऐसा कहते हैं—'जातौ जातौ' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—वत्स श्रीरामजी, देव, दानव, मनुष्य आदि हर एक जातिमें कुछ श्रेष्ठ विद्वान् विद्यमान हैं, जिनका कि 'यो यो देवानाम्' इत्यादि श्रुतियोंमें उल्लेख पाया जाता है, प्रकाशमान सूर्यके सदृश उन्हीं विद्वानोंके प्रकाशसे दिवस दिवसरूप होते हैं ॥ २५ ॥

अधश्चोर्ध्वं च धावन्तश्चक्रावर्तविवर्तनैः ।
सर्वे तृणवदुह्यन्ते मूढा मोहभवाम्बुधौ ॥ २६ ॥
नष्टात्मस्थितयो भोगवह्निषु प्रज्वलन्त्यलम् ।
देवा दिवि दवेनाऽद्रौ दह्यमाना द्रुमा इव ॥ २७ ॥
पातिता मदसंपन्ना दानवा दानवारिभिः ।
गजा इव निरालाना घोरे नारायणावटे ॥ २८ ॥
न गन्धमपि गन्धर्वा दर्शयन्ति विवेकजम् ।
गीतपीतपरामर्शाः सरन्ति हरिणा इव ॥ २९ ॥
विद्याधरांश्च विद्यानामाधारत्वेन मोहिताः ।
स्फुरितानामुदाराणामपि कुर्वन्ति नाऽऽदरम् ॥ ३० ॥
यक्षा विक्षोभितभुवो दक्षतामक्षता इव ।
दर्शयन्त्यसहायेषु बालवृद्धातुरेषु च ॥ ३१ ॥

उन विद्वानोंको छोड़कर दूसरे सभी मूढ हैं और वे मोहरूपी महासागरमें संसार-चक्रोंके आवर्तन-परावर्तनसे ऊपर-नीचे दौड़ते हुए तृणके सदृश बहते रहते हैं॥२६॥

देव आदि जाति विशेषोंमें उसीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं—'नष्टात्म०' इत्यादिसे।

जिन देवताओंकी आत्मामें निष्ठा नहीं हुई है, वे देव स्वर्गमें भोगरूपी अग्निकी ज्वालाओंमें ऐसे जलते रहते हैं, जैसे वनाग्निसे पर्वतपर वृक्ष जलते रहते हैं ॥ २७॥

मदसे चूर दानव तो दानवशत्रु देवताओंके द्वारा नरायणरूपी गड्ढेमें ऐसे गिराये गये हैं, जैसे कि आलानसे (बाँधनेके खंभेसे) रहित गज बड़े गड्ढेमें गिराया गया हो ॥ २८ ॥

गन्धर्व लोगोंकी तो बात ही जाने दीजिये। वे तो गानरूपी मद्यमें रात-दिन आसक्त (मस्त) रहते हैं, इसलिए वे विवेकजनित ज्ञानका लेश भी दिखला नहीं सकते। हरिणोंके सदृश भ्रान्त होकर मृत्युरूपी व्याधके समीप वे जा रहे हैं ॥२९॥

विद्याधरोंमें ब्रह्मविद्याकी योग्यता है, इसलिए वे विद्याके आधार कहे जाते हैं, यही कारण है कि वे सबसे अधिक चमकीले हैं, परन्तु उदार विवेकोंकी ओर वे आदर नहीं रखते, केवल मोहमें फँसकर भोगविद्याओंमें ही रात-दिन पड़े रहते हैं—इन्हींमें मस्त रहते हैं ॥ ३० ॥

यक्षोंकी भी बात न्यारी है, वे मनुष्योंकी निवासभूमिको क्षुब्ध किये हुए हैं,

दन्तिनामिव मत्तानां रंहसा हरिणाऽरिणा ।
कृतः करिष्यसि त्वं च राक्षसानां परिक्षयम् ॥ ३२ ॥
भृशं पिशाचाः पश्यन्ति भूतभोजनचिन्तया ।
धूमान्धकारानिलया ज्वालयाऽऽहुतयो यथा ॥ ३३ ॥
नागजालमृणालानि मग्नानि धरणीतले ।
नगानामिव मूलानि जडानीव स्थितान्यलम् ॥ ३४ ॥
विवरं शरणं येषां कीटानामिव भूतले ।
तेषामसुरबालानां विवेकेषु कथैव का ॥ ३५ ॥

अपनेको अविनाशी-सा समझते हैं यानी अपना शरीर कभी नष्ट नहीं होगा, ऐसा समझते हैं, मणि, मन्त्र आदिके बलोंसे विहीन असहाय बाल, वृद्ध और आतुरोंके ऊपर अपनी दक्षता दर्शाते हैं ॥ ३१ ॥

जो राक्षस हैं, उनका तो शत्रुभूत विष्णुके द्वारा पूर्वमें अनेक बार वेगपूर्वक विनाश किया गया है और आप भी भविष्यमें करेंगे । राक्षस काम, बल और शौर्यके कारण हाथीके सदृश सदा उन्मत्त रहते हैं । इसलिए इनके प्रमादका फल तो प्रत्यक्ष ही है ॥ ३२ ॥

पिशाच तो सदा भूखसे ही तड़पते रहते हैं, उनको निरन्तर पेट भरनेकी चिन्ता रहती है, अतः कभी भी उनको विवेक नहीं हो सकता, यह कहते हैं—**'भृशम्'** इत्यादिसे ।

जैसे अग्निमें गिरी आहुतियाँ अपनेको निरन्तर धूम युक्त ज्वालाओंसे जलती हुई ही देखती हैं, वैसे ही प्राणियोंको खा जानेकी चिन्तासे, जो कि अज्ञानरूपी धूमान्धकारको वायुके सदृश क्रोध, हिंसा आदिकी ज्वालारूप बना देती है, अपनेको जले हुए ही देखते हैं ॥ ३३ ॥

इसी तरह नागजातिमें भी विवेक नहीं है, यह कहते हैं—**'नागजाल०'** इत्यादिसे ।

यह पाताललोकमें जो नागोंका जालरूप विसतन्तुओंका समूह डूबा हुआ है, वह भी वृक्षोंके मूल समूहके सदृश जड़ (विवेकहीन) ही है ॥ ३४ ॥

कीटोंके सदृश भूतलके छेद ही जिनके आवासस्थान हैं, उन असुररूपी बालकोंके विवेककी तो कथा ही क्या यानी असुरोंमें तत्त्वज्ञानका जनक विवेक होता है, यह कहना तो मूर्खता ही है ॥ ३५ ॥

अल्पमात्रकणार्थेन संचरन्ति दिवानिशम् ।
पिपीलिकासधर्माणः प्रायेण पुरुषा अपि ॥ ३६ ॥
सर्वासां भूतजातीनां व्यग्राणां व्यर्थदीर्घया ।
क्षीवाणामिव गच्छन्ति दिवसानि दुरीहया ॥ ३७ ॥
न कंचित्संस्पृशत्यन्तर्विवेको विमलो जनम् ।
जलेऽगाधे निपतितं निमज्जन्तं रजो यथा ॥ ३८ ॥
नीयन्ते नियमाधूता मानवा मानवायुभिः ।
काम्पिकैः स्फुटतापूताः किरारुनिकरा इव ॥ ३९ ॥
पानभोजनजम्बाले गहने योगिनीगणाः ।
दुर्गन्धपल्वलोद्गारे पतिताः पामरा इव ॥ ४० ॥

यों बल, वीर्य एवं प्रभाव आदि उत्तम गुणोंसे सम्पन्न देवोंसे लेकर असुर तकके लोगोंको जब विवेक दुर्लभ है, तब दूसरोंके लिए तो कहा ही क्या जाय, इस आशयसे कहते हैं—'अल्पमात्र०' इत्यादिसे ।

जो पुरुष हैं वे भी तो प्रायः पिपीलिकाके समानधर्मा ही हैं, क्योंकि छोटेसे कणोंके लिए रातदिन वे घूमा करते हैं ॥ ३६ ॥

मद्यपियोंके सदृश अतिव्यग्र सभी भूतजातियोंके दिन निरर्थक लम्बी-लम्बी दुष्ट इच्छाओं या चेष्टाओंसे व्यतीत होते जाते हैं, विवेकका नाम भी वे किसी दिन याद नहीं करते ॥ ३७ ॥

जैसे अगाध जलमें डूब रहे पुरुषका धूलि स्पर्श नहीं करती, वैसे ही विषयोंमें डूब रहे किसी पुरुषके भीतर निर्मल विवेक कभी स्पर्श नहीं करता ॥ ३८ ॥

राघव, देह आदिमें होनेवाले अभिमान॰ एक प्रकारसे प्रबल वायु ही हैं, इन वायुओंके झकोरोंसे मनुष्य अक्रोध आदि नियमोंसे चलित हो जाते हैं यानी क्रोध आदि शत्रुओंके अधीन हो जाते हैं। इसमें दृष्टान्त है निःसार धान्य। जैसे सूप चलानेवाले खेतिहरोंके द्वारा धान्यको शुद्ध बनानेके लिए वह खरिहानमें उड़ाया जाता है और उस सार रहित धान्यको वायु ले जाते हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए ॥ ३९ ॥

जो योगिनियोंका गण है, वह तामस भोगासक्ति रूप तालाबके दल-दलमें जो कि सुरापान, रुधिरपान तथा मांसभोजन आदि रूप कीचड़ोंसे भरा है, पामरोंके सदृश फँसा हुआ है, उनको भी विवेककी मात्रा नहीं है, यह समझना चाहिए ॥ ४० ॥

केवलं यमचन्द्रेन्द्ररुद्रार्कवरुणानिलाः ।
जीवन्मुक्ता हरिब्रह्मगुरुशुक्रानलादयः ॥ ४१ ॥

प्रजापतीनां सप्तर्षिदक्षाद्याः कश्यपादयः ।
नारदाद्याः कुमाराद्याः सनकाद्याः सुरात्मजाः ॥ ४२ ॥

दानवानां हिरण्याक्षबलिप्रह्लादशम्बराः ।
मयवृत्रान्धनमुचिकेशिपुत्रमुरादयः ॥ ४३ ॥

विभीषणाद्या रक्षस्सु प्रहस्तेन्द्रजिदादयः ।
शेषतक्षककर्कोटमहापद्मादयोऽहिषु ॥ ४४ ॥

ब्रह्मविष्ण्विन्द्रलोकेषु वास्तव्या मुक्तदेहिनः ।
मुक्तस्वभावास्तुषिताः सिद्धाः साध्याश्च केचन ॥ ४५ ॥

मानुषेषु च राजानो मुनयो ब्राह्मणोत्तमाः ।
जीवन्मुक्ताः संभवन्ति विरलास्तु रघूद्वह ॥ ४६ ॥

यों देव आदि योनियोंमें विवेक ज्ञानकी दुर्लभता बतला कर अब उनमें जो प्रबुद्ध हैं, उनमें कुछको, परिगणन कर, बतलाते हैं—'केवल०' इत्यादिसे ।

देवादिमें यम, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, सूर्य, वरुण, वायु, हरि, हर, ब्रह्मा, बृहस्पति, शुक्र, अग्नि आदि; प्रजापतियोंमें सप्तर्षिमण्डल, दक्ष आदि, कश्यप आदि, नारद आदि, सनत्कुमार आदि देवकुमार; दानवोंमें हिरण्याक्ष, बलि, प्रह्लाद, शम्बर, मय, वृत्र, अन्धक, नमुचि, केशिपुत्र, मुर आदि; राक्षसोंमें विभीषण आदि, प्रहस्त, इन्द्रजित, आदि; नागोंमें शेष, तक्षक, कर्कोटक, महापद्म, आदि ये सब तथा ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, इन्द्रलोकमें निवास करनेवाले मुक्तस्वभाव और विदेहमुक्त हैं । इसी तरह कोई तुषित (देवयोनि भेद), सिद्ध एवं साध्य भी जीवन्मुक्त हैं ॥ ४१–४५ ॥

हे रघुकुलश्रेष्ठ, मनुष्योंमें राजा, मुनि, उत्तम ब्राह्मण जीवन्मुक्त होते हैं, परन्तु ये दुर्लभ हैं यानी लाखों करोड़ों राजा आदिमें जीवन्मुक्त पुरुष उत्पन्न होते हैं ॥ ४६ ॥

सभी जातियोंमें जीवन्मुक्त हैं ही, परन्तु वे अति दुर्लभ हैं, यह जो कहा गया, उसका दृष्टान्तसे समर्थन करते हैं—'भूतानि०' इत्यादिसे ।

भूतानि सन्ति सकलानि बहूनि दिक्षु
बोधान्वितानि विरलानि भवन्ति किन्तु ।
वृक्षा भवन्ति फलपल्लवजालयुक्ताः
कल्पद्रुमास्तु विरलाः खलु संभवन्ति ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाण-प्रकरणे उत्तरार्धे विवेकिविरलत्ववर्णनं नाम सप्तनवतितमः सर्गः ॥ ९७ ॥

अष्टनवतितमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

विवेकिनो विरक्ता ये विश्रान्ता ये परे पदे ।
तेषां तनुत्वमायान्ति लोभमोहादयोऽरयः ॥ १ ॥
न हृष्यन्ति न कुप्यन्ति नाऽऽविशन्त्याहरन्ति च ।
उद्विजन्तेऽपि नो लोकाल्लोकान्नोद्वेजयन्ति च ॥ २ ॥

अनेक तरहके असङ्ख्य प्राणी चारों ओर दिशाओंमें भरे पड़े हैं, किन्तु उनमें तत्त्वज्ञानसम्पन्न बहुत ही विरल होते हैं, ठीक ही है, फलों, पल्लवोंसे युक्त वृक्ष होते तो असङ्ख्य हैं, परन्तु उनमें कल्पवृक्ष विरले होते हैं ॥ ४७ ॥

सत्तानबे सर्ग समाप्त

अट्ठानबे सर्ग

[तत्त्वज्ञानी सन्तोंके लक्षण तथा परीक्षा द्वारा उनके दोषोंकी उपेक्षा कर उनका आश्रयण करनेका वर्णन]

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामचन्द्रजी, विरक्त एवं विवेकसम्पन्न जो महात्मा परमपद ब्रह्ममें विश्रान्ति पाकर स्थित हैं, उन महात्माओंके लोभ, मोह आदि शत्रु छोटे हो जाते हैं। लोभ-मोहकी अल्पता ही जब तत्त्वज्ञोंका लक्षण है, तब उनकी निर्दोषतामें तो कहना ही क्या है ? ॥ १ ॥

महात्मा तत्त्वज्ञानी न तो किसीसे प्रसन्न होते हैं, न किसीपर क्रोध करते हैं, न किसी विषयमें अभिनिवेश (आसक्ति) करते हैं, न खाद्य वस्तुओंका

न नास्तिक्यान्न चास्तिक्यात्कष्टानुष्ठानवैदिकाः ।
मनोज्ञमधुराचाराः प्रियपेशलवादिनः ॥ ३ ॥

सङ्गादाह्लादयन्त्यन्तः शशाङ्ककिरणा इव ।
विवेचितारः कार्याणां निर्णेतारः क्षणादपि ॥ ४ ॥

अनुद्वेगकराचारा बान्धवा नागरा इव ।
बहिः सर्वसमाचारा अन्तः सर्वार्थशीतलाः ॥ ५ ॥

शास्त्रार्थरसिकास्तज्ज्ञा ज्ञातलोकपरावराः ।
हेयोपादेयवेत्तारो यथाप्राप्ताभिपातिनः ॥ ६ ॥

संग्रह करते हैं, न लोगोंसे उद्विग्न होते हैं और न लोगोंको ही उद्विग्न करते हैं ॥ २ ॥

शरीरको अधिक क्लेश पहुँचानेवाले पारलौकिक वैदिक कर्मोंमें भी शुष्क वैदिकके सदृश हठसे प्रवृत्त होकर क्लेशयुक्त नहीं होते, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

आस्तिक्य भावना या नास्तिक्य भावनासे जनित अभिमानप्रयुक्त हठसे न कष्टकारक वैदिक अनुष्ठानमें निरत रहते हैं । उनका आचरण मनोज्ञ एवं अत्यन्त मधुर होता है और प्रिय एवं कोमल वार्ता करते हैं ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञ लोग अपने सङ्गसे चन्द्रकिरणोंके सदृश अन्तःकरणको उल्लास युक्त बना देते हैं । करने योग्य लौकिक एवं वैदिक कर्मोंका जब परस्पर विरोध उपस्थित हो जाता है, तब अकार्योंसे विवेक कर एक क्षणमें ही सन्देह मिटा देते हैं ॥ ४ ॥

तत्त्वज्ञोंके आचरणसे कभी उद्वेग नहीं होता, वे सबके बन्धु-से तथा चातुर्यपूर्ण रहते हैं । बाहरसे उनका आचरण सभीके सदृश होता है, परन्तु भीतरसे वे अत्यन्त शीतल होते हैं ॥ ५ ॥

तत्त्वज्ञ शास्त्रोंके अर्थोंमें बड़ा ही रस लेते है, उत्तम और अधम लोकोंको जानते हैं, कौन वस्तु छोड़ने योग्य है और कौन छोड़ने योग्य नहीं है इसको भली भाँति जानते हैं तथा समयपर जो भी कुछ प्रारब्धानुसार प्राप्त हो जाय, उसका अनुवर्तन कर लेते हैं ॥ ६ ॥

विरुद्धकार्यविरता रसिकाः सज्जनस्थितौ ।
अनावरणसौगन्ध्यैः परास्पदसुखाशनैः ॥ ७ ॥
पूजयन्त्यागतं फुल्ला भृङ्गं पद्मा इवाऽर्थिनम् ।
आवर्जयन्ति जनतां जनतापापहारिणः ॥ ८ ॥
शीतलास्पदवत्स्निग्धाः प्रावृषीव पयोधराः ।
भूभृद्भङ्गकरं धीरा देशभङ्गदमाकुलम् ।
रोधयन्त्यागतं क्षोभं भूकम्पमिव पर्वताः ॥ ९ ॥
उत्साहयन्ति विपदि सुखयन्ति च संपदि ।
चन्द्रबिम्बोपमाकारा दारा इव गुणाकराः ॥ १० ॥
यशःपुष्पामलदिशो भाविसत्फलहेतवः ।
पुंस्कोकिलसमालापा माधवा इव साधवः ॥ ११ ॥

लोकशास्त्रके विरुद्ध आचरणोंसे सदा विरत रहते हैं, सज्जनोंके बीच स्थितिमें यानी सदाचरणमें अत्यन्त रसिक होते हैं। उपदेशसे हृदयकमलको खोल कर उसमें भरे गये ज्ञानके सौगन्ध्योंसे तथा उत्तम आश्रय, सुख तथा अन्नादिसे आये हुए अतिथियोंकी पूजा करते हैं। पूजा करते समय उनका मुखकमल विकसित रहता है, उस समय वे आगत भ्रमरका आश्रयदान आदिसे सत्कार कर रहे विकसित कमलोंके सदृश लगते हैं। जनताके सन्तापोंका अपहरण करनेके कारण वे जनताको अपनी ओर खींच लेते हैं और वर्षाकालके मेघोंके सदृश कृपावृष्टिकारक और शीतल उद्यानके सदृश स्निग्ध होते हैं। भद्र, तत्त्वज्ञानी पुरुष राजाओंके नाशक, देशको छिन्न-भिन्न करनेवाले तथा दुर्भिक्ष आदिसे जनित जनता क्षोभको तपस्याके प्रताप, सत्कर्मोंके अनुष्ठान, साम आदि उपायोंसे ऐसे पकड़कर रोक लेते हैं, जैसे भूकम्पको पर्वत ॥ ७, ९. ॥

नानाविध उत्तम गुणोंसे पूर्ण, चन्द्रबिम्बके सदृश प्रसन्नाकृति उत्तम भार्याके सदृश अनेक गुणोंसे पूर्ण शान्ताकृति ज्ञानी पुरुष विपत्तियोंमें उत्साह देते हैं और सम्पत्तियोंमें सुख पहुँचाते हैं ॥ १० ॥

यशरूपी फूलोंसे सारी दिशाओंको निर्मल बनानेवाले, भावी उत्तम फलके हेतु तथा कोकिलके सदृश मधुरभाषण करनेवाले साधु पुरुष वसन्त ऋतु जैसे हैं ॥ ११ ॥

कल्लोलबहुलावर्तं व्यामोहमकरालयम् ।
लुठन्तमिव हेमन्तं लोडयन्तं जनास्पदम् ॥ १२ ॥
वीचिविक्षोभचपलं परचित्तमहार्णवम् ।
तच्च रोधयितुं शक्तास्तटस्थाः साधुपर्वताः ॥ १३ ॥
आपत्सु बुद्धिनाशेषु कल्लोलेष्वाकुलेषु च ।
संकटेषु दुरन्तेषु सन्त एव गतिः सताम् ॥ १४ ॥
एभिश्चिह्नैरथान्यैश्च ज्ञात्वा तानुचिताशयान् ।
आश्रयेतैकविश्रान्त्यै श्रान्तः संसारवर्त्मना ॥ १५ ॥
यस्मादत्यन्तविषमः संसारोरगसागरः ।
विना सत्सङ्गमन्येन पोतकेन न तीर्यते ॥ १६ ॥
आस्तां किं मे विचारेण यद्भवेदस्तु तन्मम ।
इत्यन्तः कल्कमासाद्य न स्थेयं गर्तकीटवत् ॥ १७ ॥

अज्ञानी राजा आदिके चित्तको एक महार्णव ही समझना चाहिए, इसमें अनेक तरहके कल्लोल ही बड़े बड़े आवर्त हैं, व्यामोहरूपी मगर उसमें रहते हैं, अत्यन्त शिशिर पवनसे विक्षिप्त तरङ्गोंके व्याजसे हेमन्तके सदृश वह लुढ़कता रहता है, भ्रमर, हँस आदिके निवासस्थान पद्मवनको विलोडित करता है, काम आदि छः वृत्तियाँ उसमें बड़े बड़े तरङ्ग हैं । उस महार्णवको उपदेशादि द्वारा साधु पुरुषरूपी तटस्थ पर्वत ही रोकनेमें अत्यन्त समर्थ हैं ॥ १२, १३ ॥

भद्र, आपदाओंमें, बुद्धिनाशमें भूख-प्यास, शोक-मोह, जरा-मरण आदि कल्लोलोंमें, व्याकुल देशोंमें तथा दुरन्त सङ्कटोंमें सज्जनोंकी सन्त ही गति हैं ॥ १४ ॥

हे श्रीरामजी, इन लक्षणोंसे तथा दूसरे पूर्ववर्णित लक्षणोंसे उन उत्तम अन्तः-करणवाले महात्माओंका परीक्षण कर आप आत्मामें शान्ति प्राप्त करनेके निमित्त उनका आश्रयण कीजिए, क्योंकि आप संसाररूपी मार्गमें भ्रमण करते करते श्रान्त हो गये हैं ॥ १५ ॥

भद्र, यह संसाररूपी साँपोंसे भरा हुआ अत्यन्त विषमय सागर सत्सङ्गरूपी जहाजको छोड़कर दूसरे किसी भी जहाजसे नहीं पार किया जा सकता, इसलिए सत्सङ्गका आश्रयण करना ही होगा ॥ १६ ॥

हमको आत्मा या सत्पुरुषके सम्बन्धमें विचार करनेसे क्या, प्रारब्धवश जो

एकोऽपि विद्यते यस्य गुणास्तं सर्वमुत्सृजन् ।
अनादृतान्यतद्दोषं तावन्मात्रं समाश्रयेत् ॥ १८ ॥
गुणान्दोषांश्च विज्ञातुमाबाल्यात्स्वप्रयत्नतः ।
यथासंभवसत्सङ्गशास्त्रैः प्राग्धियमेधयेत् ॥ १९ ॥
दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।
स्थूलदोषं त्वनिर्वाणं शनैः परिहरेत्क्रमात् ॥ २० ॥
याति रम्यमरम्यत्वं स्थिरमस्थिरतामपि ।
यथा दृष्टं तथा मन्ये याति साधुरसाधुताम् ॥ २१ ॥

भी कुछ समयपर हो जायगा, वह मेरे लिए अच्छा ही होगा—यों भीतर प्रमाद करके गर्तकीट के सदृश कभी भी पुरुषको नहीं बैठे रहना चाहिए ॥ १७ ॥

भद्र, मैंने अभी अभी आपसे जिन उत्तम गुणोंका वर्णन किया, उनमें से यदि एक भी गुण किसीमें उपलब्ध हो जाय, तो दूसरे गुणोंकी या उसमें विद्यमान अन्य दोषोंको परवाह न कर उतने गुणके उद्देश्यसे उस महात्माका आश्रयण करना चाहिए ॥ १८ ॥

गुण और दोषोंको जाननेके लिए बाल्यावस्थासे लेकर अपने आप प्रयत्न करना चाहिए, अपने प्रयत्नसे ही यथासंभव सत्सङ्ग एवं सत्-शास्त्रोंसे पहले बुद्धि बढ़ानी चाहिए ॥ १९ ॥

यदि दोषका कुछ लेश होवे, तो उसका अनादर कर सज्जनकी नित्य सेवा करनी चाहिए और स्थूल दोषवाले पहलेके परिजनोंका क्रमशः त्याग करना चाहिए ॥ २० ॥

पूर्व परिजनोंका त्याग न करनेपर कौन दोष उपस्थित होते हैं, उन्हें बतलाते हैं—**'याति'** इत्यादिसे ।

उनका परिहार न करनेपर शोभित भी चित्त अरम्य बन जाता है यानी रागादिसे कलुषित बन जाता है, स्थिर भी विश्रान्तिसुख विच्छिन्न हो जाता है, साधु असाधु बन जाता है, क्योंकि लोकमें जो देखा जाता है, उसे ही हम मानते हैं, यानी लोकमें इस प्रकार दोष परिजनोंके अपरिहारमें देखे जाते हैं ॥ २१ ॥

भले ही ऐसा हो, उससे भी क्या दोष हुआ ? इसपर कहते हैं—**'एष'** इत्यादिसे ।

एष सोऽत्यन्त उत्पातो यः साधुर्याति दुष्टताम् ।
देशकालवशात्पापैर्महोत्पातोऽपि दृश्यते ॥ २२ ॥
सर्वकर्माणि संत्यज्य कुर्यात्सज्जनसंगमम् ।
एतत्कर्म निराबाधं लोकद्वितयसाधनम् ॥ २३ ॥
न सज्जनाद् दूरतरः क्वचिद्भवे-
द्भजेत साधून्विनयक्रियान्वितः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं
विसारिणस्तद्गतपुष्परेणवः ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये देवदूतोक्ते मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे सज्जनसमागमप्रशंसा नामाष्टनवतितमः सर्गः । ९८ ॥

यह जगत्का अनिष्टकर महान् उत्पात है, जो कि साधु पुरुष असाधु बन जाता है और यही देश-कालवश जनताके दुरदृष्टोंके कारण महोत्पातरूपसे भी दिखाई देता है, जैसे कि विश्वामित्रकी लुब्ध (लोभी) अमात्योंके समर्थनसे वसिष्ठजीकी कामधेनुके हरणमें प्रवृत्ति हुई और इससे परस्पर बैरकी वृद्धिसे जगत्में महान् अनिष्ट हुआ, यों अनेक दृष्टान्त देखे जाते हैं ॥ २२ ॥

कथितका अनुवाद कर उपसंहार करते हैं—'सर्व०' इत्यादिसे ।

सब कर्मोंको छोड़कर सज्जनोंका ही समागम करना चाहिए, यही कर्म निराबाधरूपसे इहलोक एवं परलोक दोनोंका साधन है यानी दोनों लोकोंकी प्राप्ति करता है ॥ २३ ॥

इस प्रकारका सज्जनसमागम, गुणोपार्जनक्रमसे जबतक ज्ञाननिष्ठा न हो जाय तबतक, बीचमें कभी छोड़ना नहीं चाहिए, यह कहते हैं—'न' इत्यादिसे ।

भद्र, किसी भी कालमें सज्जन सद्गुरुसे दूर नहीं होना चाहिए, किन्तु विनय, सेवा आदि क्रियाओंसे युक्त होकर साधु पुरुषोंकी निरन्तर सेवा करनी चाहिए, क्योंकि उन साधुओंके पास जानेमात्रसे विसरणशील उनके शान्ति आदि गुण पास जानेवालेमें ऐसे संक्रान्त (मिश्रित) हो जाते हैं, जैसे फूलोंकी सुगन्ध तिलोंमें सम्बन्धमात्रसे मिश्रित हो जाती है ॥ २४ ॥

अट्ठानवे सर्ग समाप्त

नवनवतितमः सर्गः

श्रीराम उवाच

सन्ति दुःखक्षयेऽस्माकं शास्त्रसत्सङ्गयुक्तयः ।
मन्त्रौषधितपोदानतीर्थपुण्याश्रमाश्रयाः ॥ १ ॥
कृमिकीटपतङ्गाद्यास्तिर्यक्स्थावरजातयः ।
कथं स्थिताः किमारम्भास्त्वेषां दुःखक्षयः कथम् ॥ २ ॥

वसिष्ठ उवाच

सर्वाण्येवेह भूतानि स्थावराणि चराणि च ।
आत्मोचितायां सत्तायां विश्रान्तानि स्थितान्यलम् ॥ ३ ॥

निन्नानवे सर्ग

[कृमि, कीट, पतङ्ग, तिर्यग्योनि, स्थावर आदि जातियोंका इस संसारमें जैसा भोग होता है, उस सबका वर्णन]

कृमि, कीट आदि अतिमूढ़ जन्तुओंका तो जीवन ही दुर्लभ हो जायगा, क्योंकि तात्कालिक दुःखशान्तिका उपाय वहाँ है ही नहीं, उनमें ऐसी शक्ति है नहीं जिससे कि वे दुःखशान्तिका उपाय जान सकें। ऐसी स्थितिमें वे किस तरह जीते हैं, यों श्रीरामजी उनकी संसारस्थितिको, जातिप्रसङ्गसे, जानने की इच्छासे पूछते हैं—'**सन्ति**' इत्यादिसे।

श्रीरामजीने कहा—गुरुवर, हम मनुष्य-जातिके लोगोंके दुःखक्षयके लिए तो शास्त्र, सत्सङ्ग, मन्त्र, ओषधि, तप, दान, तीर्थ तथा पुण्याश्रममें निवास आदि उपाय हैं; परन्तु कृमि, कीट, पतङ्ग आदि तथा तिर्यक्, स्थावर आदि जो जातियाँ हैं, उनका दुःखक्षय किस उपायसे होगा, उपायके अभावमें उनका जीवनयापन कैसे ? यानी वे किस तरह जी सकते हैं॥ १, २ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, इस संसारमें जितने भी जीव हैं वे चाहे स्थावर हों, चाहे जङ्गम हों, वे सब अपने अपने योग्य भोगोंके उचित सुखसत्तामें ही विश्राम किये रहते हैं और उसीसे अपना अपना जीवन भी धारण किये हुए है, इससे निष्कर्ष यह निकला कि तत्-तत्-योनियोंमें भोग्य जो विषय-सुखकी मात्रा है, वही तत्-तत् जीवोंका महान् पुरुषार्थ है, इसी सुखमात्रासे

भूतानामणुमात्राणामप्यस्माकमिवैषणाः ।
किन्त्वल्पास्था वयं विघ्नास्तेषां त्वचलसंनिभाः ॥ ४ ॥
यथा विराट् प्रयतते वालखिल्यास्तथैव खे ।
बालमुष्ट्यल्पकायेऽपि पश्याऽहंकृतिजृम्भितम् ॥ ५ ॥
जायन्ते च म्रियन्ते च निराधारेऽम्बरे खगाः ।
शून्यैकविषयास्तेषां स्वास्थ्यं न भवति क्षणम् ॥ ६ ॥

वे विश्रान्ति लेते हैं और उसीकी आशासे अनेक दुःख झेलते हुए जीते रहते हैं ॥ ३ ॥

भद्र, छोटे छोटे अणुमात्र जो जीव हैं, उनको भी अपनी योनिके अनुसार हम मनुष्य जातिके लोगोंकी जैसी ही सुख भोगनेकी इच्छाएँ रहती ही हैं, परन्तु हम लोगोंको उन भोगोंमें एक तो आस्था नहीं है और उनको प्राप्त करनेमें कोई अधिक विघ्नबाधा भी नहीं पहुँचाता, उनको तो मोह, काम आदि दोषोंकी अधिकताके कारण तथा विवेककी मात्राके अभावसे उन भोगोंमें अधिक आस्था है और उनको पानेमें उन्हें पर्वतके सदृश बड़े बड़े विघ्नोंका सामना भी करना पड़ता है ॥ ४ ॥

यदि प्रश्न हो कि भोगोंमें बहुत आस्था है, यह आपने कैसे जाना, तो इसका उत्तर है—प्रयत्नकी अधिकता, इस आशयसे कहते हैं—'यथा' इत्यादिसे ।

भद्र, जिसका समस्त ब्रह्माण्ड एक शरीर है, वह विराट् हिरण्यगर्भ जैसे अपने अधिकार निभानेकी अनेक चेष्टाओंके द्वारा स्वभोगार्थ प्रयत्न करता है, वैसे ही केशोंके अग्रभागके सदृश देहवाले कृमि, कीट आदि भी बालककी मुट्ठीके छेदकी अपेक्षा भी छोटे अल्पकाय आकाशमें प्रयत्न करते हैं, देखिये तो सही कि कैसी अहङ्कारकी महिमा है ॥ ५ ॥

एकमात्र शून्य विषयवाले गगनपक्षी निराधार आकाशमें उत्पन्न होते हैं और वहींपर मर जाते हैं, उनको कुछ भी विषय नहीं मिलता है, परन्तु क्षणभर वे स्वस्थ नहीं बैठते यानी वे अपने प्रयत्नसे तनिक भी हटते नहीं ॥ ६ ॥

कण आदिके उपार्जनमें पिपीलिका आदिका अधिक प्रयत्न देखा जाता है, इससे भी अनुमान होता है कि उन्हें भोगकी आस्था बहुत है, इस आशयसे कहते हैं—'पिपीलिका०' इत्यादिसे ।

पिपीलिकायाश्चेष्टाभिर्ग्रासावासात्मबन्धुभिः ।
अस्मद्दिवसकल्पोऽपि न पर्याप्तः क्षणो यथा ॥ ७ ॥
त्रसरेणुप्रमाणात्मा कृम्यणुस्तिमिनामकः ।
गमने व्यग्रता तस्य गरुडस्येव लक्ष्यते ॥ ८ ॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इत्याकल्पितकल्पनम् ।
जगद्यथा नृणां स्फारं तथैवोच्चैर्गुणैः कृमेः ॥ ९ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यव्यग्रया जर्जरीकृतम् ।
क्षीयते व्रणकीटानामस्माकमिव जीवितम् ॥ १० ॥
पादपाः किंचिदुन्निद्रा घननिद्राः खलूपलाः ।
कृमिकीटादयः कार्ये नरवत्स्वप्नबोधिनः ॥ ११ ॥

भद्र, देखिये---ग्रास तथा निवासका सम्पादन तथा कुटुम्बपोषण आदि नानाविध चेष्टाओंसे यह प्रतीत होता है कि जैसे पिपीलिकाके लिए हमारे दिन जैसा भी दीर्घकाल उनके कणोपार्जनप्रयत्नके लिए क्षणके सदृश पर्याप्त ही नहीं है ॥ ७ ॥

भद्र, यह एक और नवीनता सुनिये---तिमिनामका जो अत्यन्त छोटा त्रसरेणुके बराबरका जीव है, उसकी गमनमें ऐसी व्यग्रता दीखती है, जैसी कि गरुड़की गमनमें व्यग्रता दीखती हो ॥ ८ ॥

देहमें और देहभोग्य वस्तुओंमें अहंममताका अध्यास मनुष्य और कृमि दोनोंको एक सा है, यह कहते हैं---'अयम्' इत्यादिसे ।

श्रीरामजी, यह, वह, मैं, यह मेरा है, वह मेरा है, इस तरह कल्पित अध्यास-रूप जगत् जैसे मनुष्योंके लिए अनेक ऊँचे गुणोंके कारण अत्यन्त आस्थाका भाजन है, ठीक वैसे ही कृमिके लिए भी है ॥ ९ ॥

विषयोंकी आस्थाके कारण आयुका जो निरर्थक क्षय हो जाता है, वह भी हम मनुष्य एवं कीट आदिका समान है, यह कहते हैं---'देश०' इत्यादिसे ।

देश, काल, क्रिया, द्रव्य आदि विषयोंकी प्राप्तिके निमित्त व्यग्र बुद्धिसे जैसे हम लोगोंका जीवन जर्जर यानी क्षीण हो जाता है, वैसे ही व्रणकीटोंका भी उक्त व्यग्र बुद्धिसे जीवन क्षीण हो जाता है ॥ १० ॥

वृक्ष आदि स्थावर जीव कुछ कुछ जागते रहते हैं, पत्थर एकदम सोते ही

शरीरनाश एवैषां सुखं संप्रति दुःखकृत् ।
अस्माकमिव तेषां तज्जीवितं तु सुखायते ॥ १२ ॥

जनो द्वीपान्तरं यादृग्विक्रीतः परिपश्यति ।
पदार्थजालं पश्यन्ति तादृक्पशुमृगादयः ॥ १३ ॥

अस्माकमिव संसारस्तिरश्चां सुखदुःखदः ।
पदार्थप्रविभागेन केवलं ते विवर्जिताः ॥ १४ ॥

हृदयात्सुखदुःखाभ्यां नासातो रशनागुणैः ।
पशवः परिकृष्यन्ते विक्रीताः पामरा अपि ॥ १५ ॥

रहते हैं यानी घनी नींदसे सोये हुए ही रहते हैं और कृमि, कीट आदि तो हम मनुष्योंके जैसे अपने अपने उचित विषयभोगमें निद्रा एवं जागरण—दोनोंसे युक्त रहते हैं ॥ ११ ॥

शरीरकालमें सुखपूर्वक स्थित ये जो कृमि, कीट आदि हैं, उनको भी हम लोगोंके सदृश शरीरविनाश ही दुःख पैदा करनेवाला है और जीवन (शरीरमें प्राणस्थिति) सुख पैदा करनेवाला है ॥ १२ से

हम लोगोंके भोग्य, घर, महल, धन आदिको वे कैसे देखते हैं, इसे कहते हैं—'जनः' इत्यादिसे ।

जैसे बेचा गया पुरुष अन्य द्वीपको उदासीनतासे मुग्धदृष्टि होकर देखता है, वैसे ही पशु, मृग आदि उनके अभोग्य घर आदि पदार्थोंको उदासीनतासे मुग्धदृष्टिसे देखते हैं ॥ १३ ॥

जैसे हम मनुष्यजातिके जीवोंको संसार सुख-दुःख देनेवाला है, वैसे ही तिर्यग्योनि पशुओंको भी है । केवल भेद इतना है कि उत्कर्षापकर्ष बुद्धिके कारण गुण-क्रिया विभाग वे नहीं जानते ॥ १४ ॥

बेचे गये मनुष्यकी समानता पशुमें बतलाते हैं—'हृदयात्' इत्यादिसे ।

बैल आदि पशु, जो नाथे जाते हैं, मनसे भीतर भीतर सुख दुःखसे खींचे जाते हैं और बाहरसे नाथ रज्जुके द्वारा नासिका प्रदेशसे खींचे जाते हैं यों दोनों ओर पराधीनतासे खींचे जा रहे भी वे कुछ भी अपना दुःख हरने या प्रकट करनेमें समर्थ नहीं होते, ठीक इसी तरहके द्वीपान्तरमें विक्रीत पामर जन भी होते हैं, इस लिए दोनोंकी समता है ही ॥ १५ ॥

सुप्तानां यादृगस्माकं वेदनं स्पष्टसुत्वचाम् ।
वृक्षगुल्माङ्कुरादीनां तादृगुद्दामवेदनम् ॥ १६ ॥
यादृगस्माकमीत्यर्थक्रमसंसारपातिनाम् ।
पदार्थवेदनं तादृक्तिरश्चां भ्रान्तमभ्रमम् ॥ १७ ॥
आह्लादमात्रसौम्यत्वं सुखतश्चेन्द्रकीटयोः ।
समं विकल्पविन्मुक्तं विकल्पस्त्वनतिक्रमः ॥ १८ ॥

वृक्ष आदिके सुख, दुःखके अनुभव की प्रणाली हमारे सुख दुःखके अनुभवके अनुरूप ही है, ऐसा उपपादन करते हैं—**'सुप्तानाम्'** इत्यादि श्लोकसे ।

सुकुमार त्वचावाले हम लोग जब निद्रादेवीकी गोदमें अचेत होकर सोये रहते हैं तब यदि अत्यधिक शीत, गर्मी, मच्छर, खटमल आदि हमें तंग करते हैं तो सुखशून्य नींदमें हमें जैसे महाक्लेशका अनुभव होता है वैसे ही महाक्लेशका अनुभव पेड़, पौधे, अङ्कुर आदिको होता है । श्लोकमें अङ्कुरका ग्रहण अति सुकुमार होनेके कारण उसे कृमि, कीड़ों आदिके काटनेपर अत्यन्त क्लेश होता है यह सूचित करनेके लिए है ॥ १६ ॥

पूर्वमें जो यह कहा था कि हम लोगोंकी भाँति ही पशु, मृगादिको भी संसार सुख ओर दुःखदायक है, किन्तु वे पदार्थोंके गुण, क्रियोपयोग (इसमें यह गुण है यह इस कार्यके उपयोगी है) आदि विवेचनसे, जिससे उत्कर्ष और अपकर्षका ज्ञान होता है, सर्वथा कोरे हैं । इस बातको उपपादनके द्वारा अनुभवमें चढ़ाते हैं—**'यादृग'** इत्यादिसे ।

जैसे देशविप्लवके समय पलायन द्वारा धावन आदि गतिके लिए कुश, काँटे, जली हुई बालूपर चलना, बोझ ढोना आदि मुसीबतोंपर पड़े हुए हम लोगोंको चारों ओरसे भयकी आशङ्कासे पूर्ण पदार्थज्ञान होता है वैसा ही पदार्थज्ञान पक्षी, सर्प आदि तिर्यग्योनिवाले जीवोंको भी सदा होता है ॥ १७ ॥

यदि मन विकल्प-ज्ञानोंसे शून्य हो तो आह्लादस्वरूप आत्मानन्दमें और भोजन, निद्रा, मैथुन आदिसे होनेवाले सुखोंमें इन्द्र और कीड़ेकी मनकी प्रसन्नतारूप सौम्यता एक सी है । केवल विकल्प ही दोनोंके लिए—इन्द्र ओर कीड़ेके लिए—हिमालयके समान अलङ्घ्य है ॥ १८ ॥

रागद्वेषभयाहारमैथुनोत्थं सुखासुखम् ।
तिरश्चां जन्ममृत्यादिखेदः कश्चिन्न भिद्यते ॥ १९ ॥
ऋते पदार्थभूतार्थभविष्यद्वस्तुबोधतः ।
शेषं बभ्रुहिगोमायुगजादीनां नृभिः समम् ॥ २० ॥
निद्रामयानां वृक्षाणां स्वसत्तामचलादयः ।
स्थिता अनुभवन्तोऽन्ये चिदाकाशमखण्डितम् ॥ २१ ॥

राग, द्वेष, भय, आहार और स्त्रीसंग जनित सुख और दुःख तथा जन्म-मरणके समय होनेवाला क्लेश इन्द्र और कीड़ेका समान है, उसमें तनिक भी अन्तर नहीं है ॥ १९ ॥

शास्त्रवेद्य पुण्य, पाप, ब्रह्मतत्त्व आदि तथा अतीत और भावी पदार्थोंके सिवा शेष ज्ञान नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिका मनुष्यका-सा ही है, उसमें कुछ भी अन्तर नहीं है यानी नकुल, साँप, सियार, हाथी आदिको शास्त्रगम्य धर्म, अधर्म, आत्मतत्त्व, अतीत, अनागत आदि पदार्थोंका ज्ञान नहीं होता, मनुष्यको हो सकता है, इसके अतिरिक्त ज्ञान जैसा मनुष्यको है वैसा ही नकुल आदिको भी है ॥ २० ॥

तो पर्वत आदि कैसे अनुभव करते हैं? इस आशङ्कापर कहते हैं—'निद्रा०' इत्यादिसे ।

गाढ़ निद्रावाले (सुषुप्तिमें स्थित) वृक्षादिकी अत्यन्त मूढभावसे जो अपनेमें स्थिति है उसका पाषाण आदि अचल पदार्थ अनुभव करते हैं और जो हिमालय, सुमेरु आदि तत्त्वज्ञानी पर्वत हैं, वे तो अखण्ड चिदाकाशका अनुभव करते हुए सदा समाधिमें स्थित हैं ॥ २१ ॥

इस प्रकार न तो वृक्ष आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे गाढ़ निद्रामें मग्न हैं, न पर्वत आदि जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है, क्योंकि वे आत्मसत्तामें स्थित हैं, जंगम जीवोंमें भी तत्त्व-ज्ञानियोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना नहीं हो सकती है, कारण वे तो चिदाकाश-स्वरूप ही हैं। हाँ, कतिपय अज्ञानी जङ्गम जीवोंकी दृष्टिसे जगत्की कल्पना हो सकती है। किन्तु उनकी दृष्टि उक्त बहुतसे लोगोंकी दृष्टिसे विरुद्ध जगत्सत्ता-की सिद्धि नहीं कर सकती, इस आशय से कहते हैं—'आपीन०' इत्यादिसे ।

आपीननिद्रा वृक्षाद्याः स्वसत्तास्थास्तथाऽद्रयः ।
जङ्गमानि चिदाकाशं नाम किंचित्कदाचन ॥ २२ ॥
अखण्डचित्ता शैलादिसत्ता निद्रा च भूरुहाम् ।
द्वैतोपलम्भमुक्तत्वात् खमेवैकमतो जगत् ॥ २३ ॥
परिज्ञातं जगद्यावदपरिज्ञानसंयुतम् ।
न त्वं नाऽहं न चैवाऽस्तिनास्ती न च भविष्यति ॥ २४ ॥
यथास्थितं सदैवेदं मौनमेव शिलाघनम् ।
अनाद्यन्तमविच्छिद्रमनिद्रं च सनिद्रकम् ॥ २५ ॥
पूर्वं सर्गाद्यथैवाऽऽसीत्तथैवैकं समस्थितम् ।
भविष्यत्यधुनाऽनन्तं कालमेवं तथैव च ॥ २६ ॥

वृक्ष आदि गाढ़ निद्रामें हैं और पर्वत आदि अपनी सत्तामें स्थित हैं। जो जङ्गम जीव हैं, वे भी सुषुप्ति, मरण, मूर्छा, मोक्ष आदि अवस्थाओंमें चिदाकाशरूप ही हैं। जङ्गम जीवोंमेंसे किन्हींको कभी (स्वप्नमें) अर्धविकाससे और कभी (जागरणावस्थामें) पूर्ण विकाससे भासमान भी जगत् बहुतोंकी दृष्टिके अनुरोधसे चिदाकाश ही है ॥ २२ ॥

जो पर्वत आदिकी सत्ता और जो वृक्षोंकी निद्रा है, वह द्वैतज्ञानविहीन होनेके कारण अखण्ड चिद्रूप ही है, इसलिए उनकी दृष्टिसे जगत् एक अज्ञानोपहित चिन्मात्र ही है ॥ २३ ॥

औरोंकी दृष्टिसे भी आत्मतत्त्व जबतक परिज्ञात न हो तभी तक जगत् है आत्मतत्त्वका परिज्ञान होनेपर तो न तुम हो, न मैं हूँ, न जगत्सत्ता ही है, न असत्ता है और न जगत्का प्रागभाव ही है यानी किसी कोटिमें जगत्की स्थिति नहीं है ॥ २४ ॥

शिलाके समान ठोस, शान्त, अपने स्वरूपसे अप्रच्युत, उत्पत्ति-नाशसे रहित निर्दोष ब्रह्म ही यह सब कुछ है। वह जैसे निद्रा आत्मामें ही स्वाप्नजगत्-वैचित्र्यकी कल्पना करती है वैसे ही अज्ञानियोंकी दृष्टिसे अपनेमें ही जगद्वैचित्र्यकी कल्पना कर रहा है, वास्तवमें वह निर्विकार है ॥ २५ ॥

परमार्थदृष्टिसे तो सद् ही एकरूप है, यह कहते हैं—'पूर्वम्' इत्यादिसे।

सृष्टिके पहले सृष्टि आदि जगत् जैसे एकरूप ही स्थित था, वर्तमान कालमें भी वैसे ही स्थित है और आगे भी अनन्त काल तक वैसे ही स्थित रहेगा ॥ २६ ॥

नैवाऽऽत्मता न परता न जगत्ता न शून्यता ।
न मौनता न मौनित्वं किंचिन्नेहोपपद्यते ॥ २७ ॥
त्वं यथास्थितमेवाऽस्स्व यथास्थितमहं स्थितः ।
सुखासुखे पराकाशे शान्ते नेहाऽस्ति किंचन ॥ २८ ॥
परमाकाशतां मुक्त्वा किं स्वप्ननगरे वद ।
विद्यते किल तच्छान्तं चिद्व्योमाऽच्छमनामयम् ॥ २९ ॥
अपरिज्ञप्तिरेवैका तत्र संभ्रमकारिणी ।
परिज्ञातमिदं यावद्विद्यते साऽपि न क्वचित् ॥ ३० ॥
परिज्ञाते जगत्स्वप्ने यावत्सत्यं न किंचन ।
ग्रहस्तदेनं प्रति किं स्नेहो वन्ध्यासुते तु कः ॥ ३१ ॥
स्वप्नकाले परिज्ञाते जगत्स्वप्नमणावणौ ।
किमुपादेयता काऽऽस्था प्रबोधेऽसौ न किंचन ॥ ३२ ॥

सत् चिद् आनन्दरूप उसके आत्मत्व आदि भेद भी नहीं हैं, क्योंकि कोई व्यावर्त्य नहीं है, फिर और भेद क्यों कर होंगे, यह कहते हैं,—'नैव' इत्यादिसे।

न तो आत्मता है, न परता है, न जगत्ता है, न मौनता है, न मौनिता है बहुत क्या कहें उस सद्रूपमें कुछ भी उपपन्न नहीं है ॥ २७ ॥

आप अपने स्वरूपमें ही स्थित रहिये, मैं भी अपने स्वरूपमें ही स्थित हूँ, परम आकाशमें सुख और दुःखका नाम नहीं है और पराकाशके सिवा यहाँ कुछ नहीं है ॥ २८ ॥

जरा बतलाइये तो सही स्वप्ननगरमें परमाकाशताको छोड़कर क्या है ? निर्मल, निर्विकार शान्त चिदाकाश ही तो स्वप्ननगर है ॥ २९ ॥

केवल अज्ञान ही उसमें भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाला है। जब परम ब्रह्मका परिज्ञान हो जाता है तब अज्ञानका भी कहीं पता नहीं रहता ॥ ३० ॥

जब जगत्‌रूपी स्वप्नका ज्ञान हो जाता है तब उसमें कुछ भी सत्यता नहीं रहती। जगत्‌के प्रति अभिनिवेश (आसक्ति) वन्ध्यापुत्रमें स्नेह करनेके सदृश ही उपहासास्पद है ॥ ३१ ॥

स्वप्नकालके ज्ञात होनेपर प्रत्येक अणुमें जगत्-स्वप्नकी सम्भावना होती है, किन्तु प्रबोधावस्थामें जिसका कुछ अस्तित्व नहीं रहता उसकी क्या तो उपादेयता है और क्या उसपर आदर किया जाय ॥ ३२ ॥

यन्न किंचित्प्रबोधेऽस्ति नाऽप्रबोधेऽस्ति तत्क्वचित् ।
यस्तूपलम्भस्तत्काले पूर्वावस्थैव सा तथा ॥ ३३ ॥
विद्यते वर्तमानत्वं भविष्यद्भूतता तथा ।
बोधाबोधश्च नो सत्यं वस्तु शान्तं किलाऽखिलम् ॥ ३४ ॥
यथोर्मिणोर्मौ निहते न काचित्पयसां च्युतिः ।
तथा देहेन निहते देहे नाऽस्ति चितेः क्षतिः ॥ ३५ ॥
चितावाकाश एवाऽहं देह इत्युपजायते ।
संविदेव ततो देहे नष्टे किं नाम नश्यति ॥ ३६ ॥
प्रबुद्धस्यैव चिद्व्योम्नः स्वप्नो जगदिति स्थितम् ।
पृथ्व्यादिरहितं यस्मात्तस्मात्स्वप्नात्मकं जगत् ॥ ३७ ॥
सर्गादौ पूर्वचित्स्वप्नाज्जाता पृथ्व्यादिवस्तुधीः ।
स्वप्नार्थे सत्यताभ्रान्तिः कल्पनामात्ररूपिणी ॥ ३८ ॥

जिस वस्तुकी प्रबोधावस्थामें कुछ भी सत्ता नहीं है वह अबोधावस्थामें भी कहींपर नहीं है। जो अप्रबोधावस्थामें उसकी प्रतीति होती है, वह अज्ञता ही है अर्थात् अज्ञान ही उसकी प्रतीतिके रूपसे प्रसिद्ध होता है ॥ ३३ ॥

न तो वर्तमान सच है, न भविष्यत् सच है और न भूतकाल ही सच है, न अज्ञान सच है और न उनका ज्ञान सच है। ये सब वस्तुएँ अज्ञानवश ही प्रतीत होती हैं वास्तवमें कुछ नहीं हैं ॥ ३४ ॥

ऐसी स्थितिमें मिथ्या देह आदिके मिथ्या शत्रुओं द्वारा नष्ट किये जानेपर भी उन दोनोंके अधिष्ठानरूप-आत्माका कुछ भी नहीं बिगड़ा, यह कहते हैं—**'यथा'** इत्यादिसे।

जैसे एक लहरके आघातसे दूसरी लहरके छिन्न-भिन्न होनेपर जलकी कुछ हानि नहीं होती वैसे ही एक देहसे दूसरी देहके नष्ट होनेपर चित्को कुछ भी क्षति नहीं होती है ॥ ३५ ॥

आकाशरूप चित्में ही देह ऐसा भ्रमात्मक ज्ञान ही पैदा होता है ऐसी अवस्थामें भ्रमात्मक ज्ञानरूप देहके नष्ट होनेपर क्या नष्ट हुआ ॥ ३६ ॥

ज्ञानघन चिदाकाश ही स्वप्न जगत्‌रूपसे प्रसिद्ध है। चूँकि यह जगत् स्वप्न-जगतके समान पृथिवी आदिसे शून्य है, इसलिए स्वप्नरूप है ॥ ३७ ॥

पूर्व चित्के स्वप्नसे सृष्टिके आदिमें पृथिवी आदि पदार्थबुद्धिका उदय

पूर्वात्पूर्वतरस्याऽस्य स्वप्नस्याऽवयवस्थितौ ।
सत्येवाऽसत्यरूपायां पृथ्व्यादिकलना कृता ॥ ३९ ॥
सा च भ्रान्तिस्तथा रूढा यथाऽसत्यैव सत्यताम् ।
परमामागता तत्तु सत्यमत्यन्तनिर्मलम् ॥ ४० ॥
वस्तुतस्तु यथाभूतं चिद्ब्रह्मैवाऽऽततं स्थितम् ।
न च तत्संस्थितं किंचित्स्मर्ताऽस्मर्ता किमात्मकः ॥ ४१ ॥
एवंमात्रापरिज्ञानमेवाऽत्र प्रतिबोधकम् ।
अत्रैव तु परिज्ञानं कवाटप्रविघाटनम् ॥ ४२ ॥

हुआ। स्वप्नके पदार्थमें सत्यता बुद्धि काल्पनिक है, वास्तविक नहीं है ॥ ३८ ॥

इस प्रकार पूर्वसे पूर्वतर अनादि प्रवाहरूप स्वप्नके अवयवोंमें मूढोंने सत्य पृथ्वी आदिकी कल्पना ऐसे ही कर डाली जैसे कि आधुनिक असत्य वस्तुमें सत्य कल्पना की जाती है ॥ ३९ ॥

वह भ्रान्ति वैसी बद्धमूल हुई कि निपट असत्य होती हुई भी परम सत्यताको प्राप्त हो गई। किन्तु परम सत्य चिति तो अत्यन्त निर्मल है, उसमें जड़तारूप मलका रत्तीभर भी सम्बन्ध नहीं है ॥ ४० ॥

असत्यस्वरूप जगद्भ्रान्तिको मूढोंने अपनी कपोलकल्पनासे सच सी मान लिया है, यों 'इव'से सत्यसे उपमित कर उपमा द्वारा भ्रान्तिकल्पनामें सत्यार्थ-कल्पनाकी समानता दिखलाई। वह तभी सम्भव हो सकती है जब पहले सत्य पदार्थ रहे हों, उनका अनुभव भी हुआ हो और इस समय उनका स्मरणकर्ता भी हो। दूसरी हालतमें यह संभव नहीं है, ऐसा कहते हैं—**'वस्तुतस्तु'** इत्यादिसे।

वास्तवमें अपने स्वरूपसे अच्युत सच्चिदानन्दरूप सर्वव्यापक ब्रह्म ही स्थित है। सत्यरूप पृथ्वी आदि कुछ भी पहले कभी नहीं रहा। ऐसी परिस्थितिमें जब उसके अनुभवकी सर्वथा असिद्धि है तब उसका स्मरण करनेवाला या विस्मरण करनेवाला भला कौन होगा ? ॥ ४१ ॥

तब असत्य पदार्थमें अत्यन्त अप्रसिद्ध सत्यताकी समानताका प्रतिबोधक क्या होगा ? ऐसी आशङ्कापर स्वप्रकाश सत्यस्वरूपका अज्ञान ही असत्यमें सत्यत्वके सादृश्यका प्रतिबोधक है, यह कहते हैं—**'एवं मात्रा०'** इत्यादिसे।

यथार्थस्वरूप चिदानन्दरूप ब्रह्ममात्रविषयक अज्ञान ही जगत्में (असत्यमें) सत्यत्वकी समानताका प्रतिबोधक है, अतएव तत्त्वका परिज्ञान ही आवरणरूप

पारिशेष्यान्न पृथ्व्यादि किंचित्संभवति क्वचित् ।
यो द्रष्टा यच्च वा दृश्यं विमलं शिवमेव तत् ॥ ४३ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बाद्बिम्बं भाति जगत्तथा ।
चिद्व्योमनि स्वतो भातमबिम्बादेव बिम्बितम् ॥ ४४ ॥
मुकुरेऽन्तर्यथा बिम्बं न दृष्टमपि किंचन ।
तथा चिद्व्योमगं विश्वं न दृष्टमपि किंचन ॥ ४५ ॥
लभ्यते यद्विचारेण यत्सकारणकं स्थितम् ।
तत्सच्छेषं तु भामात्रमभूतं सत्कथं भवेत् ॥ ४६ ॥
भवेद्भ्रमात्मकमपि किंचिदर्थक्रियाकरम् ।
स्वप्नाङ्गनाऽपि कुरुते सत्यामर्थक्रियां नृणाम् ॥ ४७ ॥

अज्ञानकपाट तथा विक्षेपरूप जगत्सत्यताभ्रान्ति-कपाटका उद्घाटन है ॥ ४२ ॥

अज्ञान-कार्यके साथ अज्ञानका नाश होनेपर चिन्मात्र शेष रहनेसे पृथ्वी आदि किसीका कहींपर भी संभव नहीं है। जो द्रष्टा है अथवा दृश्य है, वह सब पूर्वोक्त परिशिष्ट चैतन्यमात्र विशुद्ध शिव ही है ॥ ४३ ॥

जैसे दर्पणमें निमित्तभूत बाहरी बिम्बसे भीतर प्रतिबिम्बकी प्रतीति होती है वैसे ही निमित्तभूत प्रतिबिम्बके बिना ही अपने-आप चिदाकाशमें प्रतिबिम्बित जगत् प्रतीत होता है ॥ ४४ ॥

दर्पणके दृष्टान्तसे विवक्षित अंशको कहते हैं—'**मुकुरे**' इत्यादिसे ।

जैसे दर्पणके अन्दर दिख रहा भी बिम्ब वास्तवमें कुछ नहीं है वैसे ही चिदाकाशमें प्रतीत हो रहा भी विश्व परमार्थदृष्टिमें कुछ भी नहीं है ॥ ४५ ॥

जो वस्तु शास्त्रीय विचारसे प्राप्त होती है जिसकी स्थिति प्रमाणरूप कसौटीसे प्रमाणित है वही सत् है उससे अन्य तो प्रतिभामात्र है, वह तीनों कालोंमें सत्ता-शून्य है—न भूतकालमें था, न वर्तमानमें है और भविष्यत्में होगा । भला वह सत् कैसे हो सकता है ॥ ४६ ॥

यदि जगत् असत् है तो वह व्यवहारार्थ क्रियाके योग्य कैसे है, इस शङ्का-पर कहते हैं—'**भवेद्**' इत्यादिसे ।

कुछ भ्रमात्मक वस्तुएँ भी अर्थक्रियाकारी देखी जाती हैं, जैसे स्वप्नस्त्री असत्य होती हुई भी मनुष्योंकी सत्य वीर्यविसर्जनरूप अर्थक्रिया करती ही है ॥ ४७ ॥

यत्तद्भानं तु सा चिद्धा परमं तच्चिदम्बरम् ।
इति क्वाहं क्व विश्वश्रीः क्व त्वं दृश्यदृशश्च काः ॥ ४८ ॥
मृत्वा पुनर्भवनमस्ति किमङ्ग नष्टं
मृत्वा न चेद्भवनमस्ति तथापि शान्तिः ।
विज्ञानदृष्टिवशतोऽस्त्यथ चेद्विमोक्ष-
स्तन्नेह किंचिदपि दुःखमुदारबुद्धेः ॥ ४९ ॥
मूर्खस्य यादृशमिदं तु तदज्ञ एव
जानात्यसौ नहि वयं किल तत्र तज्ज्ञाः ।
मत्स्यो हि यो मृगनदीसलिले स एव
जानाति तच्चपलवीचिविवर्तनानि ॥ ५० ॥

'अहम्' आदि जगत्की शोभा प्रतिभासिक ही है, अन्य प्रकारकी नहीं है। जो जगत्का भान है वह आत्मस्वरूप चैतन्यका प्रकाश ही है अन्य नहीं है। उस भानका व्यावर्तक दृश्यरूप यदि भानसे पृथक् माना जाय तो शून्य ही ठहरेगा यदि भानरूप माना जाय, तो भानका व्यावर्तक न होने से चिदाकाशरूप ही होगा, इस प्रकार विचार करनेपर जगत्का रूप कुछ भी सिद्ध नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें कहाँ मैं हूँ, कहाँ विश्वशोभा है, कहां आप हैं और दृश्यदृष्टियाँ ही कौन हैं ?

हे श्रीरामचन्द्रजी, उदारमति आपकी, जो पूर्वोक्त विज्ञानदृष्टिसे चिन्मात्र-स्वरूप हैं, देहके विनाशसे मरकर फिर अन्य देहकी उत्पत्तिसे उत्पत्ति है यानी मुक्ति नहीं है तो क्या हानि हुई ? क्योंकि दुःखगन्धविहीन निरतिशयानन्दरूप चैतन्यका नाश और उत्पत्तिसे तनिक भी स्पर्श नहीं है यदि मरकर पुनः उत्पत्ति नहीं होती, मुक्ति होती है तो भी सर्वप्रपञ्चका उपशम ही है। इसलिए उक्त दोनों ही पक्षोंमें तनिक भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है ॥ ४९ ॥

तब मूर्खको मरण और जन्ममें क्योंकर दुःख प्राप्त होता है ? ऐसा यदि कोई प्रश्न करे तो उसके प्रति उस दुःखप्राप्तिका मूर्खको ही अनुभव होता है, ऐसा कहते हैं—**'मूर्खस्य'** इत्यादिसे।

मूर्खको जिस प्रकारका दुःख होता है उसे मूर्ख ही जानता है, वह हम लोगोंकी जानकारीके बाहरकी बात है। देखिये न, जिसे मृगतृष्णारूपी नदीके जलमें 'मैं मछली हूँ' यों अपनी मछलीरूपताका अनुभव होता है, वही तो उसकी (मृगतृष्णारूपी

अन्तर्बहिस्त्वमहमित्यपि चैवमादि
सर्वात्मकं तपति चिन्नभ एकमेव ।
शाखाशिखाविटपपत्रफलैकदेहः
संकल्पवृक्ष इव बोधखमात्रसारः ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमार्थनिरूपणं नाम नवनवतितमः सर्गः ॥ ९९ ॥

शततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

युक्तिः स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्संसारे दुःखशान्तये ।
तेषां येषामयं पक्षः श्रूयतामुच्यतां ततः ॥ १ ॥

नदीकी) चञ्चल लहरोंका लहराना जानेगा, किन्तु जिसे मृगतृष्णा—नदीकी भ्रान्ति नहीं है, वह कैसे जानेगा ॥ ५० ॥

तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे तो केवल चिदाकाश ही 'तुम' 'मैं' आदिरूप सम्पूर्ण जगत् बनकर प्रकाशमान होता है। देखिये न, आत्मा ही डालियाँ, उनकी चोटियाँ, उनकी टहनियाँ, उनके पत्तों और फलोंके रूप-धारण द्वारा सङ्कल्पवृक्ष बनकर मनोराज्यमें प्रकाशमान होता है ॥ ५१ ॥

निन्नानवे सर्ग समाप्त

सौ सर्ग

[देहको आत्मा माननेवालोंके मतमें आग्रह रखनेवालोंकी भी बुद्धि जैसे वास्तविक तत्त्वकी ओर आकर्षित हो जाय वैसी युक्तिका प्रतिपादन]

पहले सृष्टिवादियोंकी उक्तिकी सत्यताके वर्णनके सिलसिलेमें 'स्वभावसिद्धमेवेदं युक्तमित्येव तद्विदाम्' इससे चार्वाककी उक्तिको समुचित कहा, उक्त कथन उनके अभिमत सब आस्तिक जनोंके विपक्षरूप देहात्मवादके विषयमें कैसे उचित है अथवा उनकी पुरुषार्थसिद्धि कैसे होती है, यह सब जाननेके लिए इच्छुक श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं—'युक्तिः' इत्यादिसे ।

यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्युरगोचरः ।
भस्मीभूतस्य शान्तस्य पुनरागमनं कुतः ॥ २ ॥
वसिष्ठ उवाच
यं यं निश्चयमादत्ते संविदन्तरखण्डितम् ।
तत्तथैवाऽनुभवति प्रत्यक्षमिति सर्वगम् ॥ ३ ॥
यथा खं सर्वगं शान्तं तथा चिद्व्योम सर्वगम् ।
तदेवैक्यमथ द्वैतमन्यार्थस्याऽत्यसंभवात् ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—भगवन्, निम्ननिर्दिष्ट प्रश्न ध्यान देकर सुननेकी कृपा कीजिये तदनन्तर उसका यथार्थ उत्तर देनेका अनुग्रह कीजिये। जब तक जीवे, आरामसे जीवे, मृत्यु अप्रत्यक्ष नहीं है। [जीतेजी अपनी मृत्युका प्रत्यक्ष नहीं होता यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि दूसरोंकी मृत्यु प्रतिदिन दिखती है अपनी मृत्युका भी उसी तरह अनुमान हो सकता है। यदि कहिये चार्वाकोंके मतमें अनुमान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वे प्रत्यक्षके सिवा और कोई प्रमाण नहीं मानते। अच्छा, उनके मतमें देह-नाश ही मृत्यु हो। पुनर्जन्म तो वे मानते नहीं अतः उनके मतमें देह-नाश ही सकल दुःख-निवृत्तिरूप मोक्ष ठहरा वह उनको वाञ्छनीय ही है इस आशयसे कहते हैं—'भस्मीभूतस्य'।] सकलदुःखोंकी निवृत्तिको प्राप्त भस्मीभूत देहका पुनः आगमन कैसे हो सकता है। ऐसा जिनका सिद्धान्त है, इस संसारमें उनकी दुःखशान्तिके लिए कैसी युक्ति है? ॥ १,२ ॥

संवित्को अपने निश्चयके अनुसार ही विवर्तका अनुभव होता है, ऐसा नियम है। उक्त नियममें ही संवित्की देहात्मभावमें भी उपपत्ति होती है और मोक्षमें भी उपपत्ति होती है। इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उसका समर्थन करते हैं—**'यम्'** इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—संवित् जो जो निश्चय करती है अपने अन्दर ज्योंका त्यों वही अनुभव करती है, यह बात सब लोगोंके अनुभवसे सिद्ध है ॥ ३ ॥

जैसे भूताकाश सर्वव्यापक और शान्त है वैसे ही चिदाकाश भी सर्वव्यापी और शान्त है। वह चिदाकाश ही विविध वादवाले पामर लोगोंसे कल्पित देहादि द्वैत और वेदान्तके मर्मको जाननेवाले विद्वानोंके अनुभवसे सिद्ध अद्वैत भी है, क्योंकि उससे अतिरिक्त वस्तुका अत्यन्त असंभव है ॥ ४ ॥

अन्य वस्तुके असंभवमें 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' (हे सोम्य, सृष्टिके पूर्व

सर्गादौ तद्दतेऽन्योऽर्थो महाप्रलयरूपिणि ।
अकारणत्वान्नाऽस्त्येव ब्रह्मैवेदमतस्ततम् ॥ ५ ॥
समस्तवेदशास्त्रार्थं ये महाप्रलयादि च ।
नेच्छन्ति ते महामूढा निःशास्त्रा नो मृता इव ॥ ६ ॥
सर्वशास्त्राविरुद्धेन सर्वं ब्रह्मेदमित्यलम् ।
स्थितं सानुभवं योक्तृ येषां तैर्न कथाक्रमः ॥ ७ ॥

यह सत् ही था) इत्यादि श्रुतियोंसे परिपोषित युक्ति कहते हैं—**'सर्गादौ'** इत्यादिसे ।

सृष्टिकी पूर्वावस्थामें, जबकि अद्वितीय ब्रह्मरूपी महाप्रलयका ही बोलबाला था, अद्वितीय ब्रह्मके सिवा कोई पदार्थ था ही नहीं, उसका कोई भी कारण नहीं, जिसकी कि उसके पूर्वमें होनेको संभावना हो। इसलिए यह ब्रह्म ही जगत्‌के रूपसे व्याप्त है ॥ ५ ॥

यदि कोई शङ्का करे कि हम ब्रह्मरूपी महाप्रलय ही नहीं मानते, जैसे बीजाङ्कुर आदिकी परम्परा अनादि है वैसे ही पृथिवी आदि महाभूतोंका प्रवाह अनादि कालसे चला आ रहा है, अतः इससे विलक्षण जगत् कभी रहा हो नहीं। इस तरहके पूर्वमीमांसक आदि कर्मकाण्डियोंके पक्षका खण्डन करते हैं—**'समस्त०'** इत्यादिसे ।

'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' (सब वेद जिस परम पदका प्रतिपादन करते हैं), 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति' (उसीको ब्राह्मण लोग वेदाध्ययन द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं) इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध सकल वेद और शास्त्रोंके प्रतिपाद्य महाप्रलयरूप ब्रह्मको, जीवोंकी ब्रह्मप्राप्तिरूप मुक्तिको तथा मुक्तिके साधन तत्त्वज्ञानको जो नहीं मानते हैं, उनकी मूढताका क्या ठिकाना है। मोक्षशास्त्रके अप्रामाणिक होनेपर तुल्ययुक्तिसे कर्मशास्त्रकी अप्रमाणताका भी वारण नहीं हो सकता, अतः वे शास्त्रशून्य हैं। जब शास्त्रशून्य हो गये तो हमारी दृष्टिमें वे मरे हुएसे हैं अर्थात् तत्त्वज्ञानके उपदेशके अयोग्य हैं ॥ ६ ॥

जिन महापुरुषोंका देह, इन्द्रिय आदिकी सकल व्यवहारोंमें नियुक्ति करनेवाला प्रत्यगात्म चैतन्य या मन सकल शास्त्रोंसे अविरुद्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" (यह सब ब्रह्म ही है) इस प्रकारके ज्ञानसे प्रचुरमात्रामें पूर्णकाम हो चुका हो, उन कृतार्थ पुरुषोंके साथ भी उपदेशकथा करना उचित नहीं है। केवल जिज्ञासु पुरुषोंके लिए ही उपदेशवार्ता उचित है ॥ ७ ॥

नित्या निरन्तरोदेति यादृशी संविदाशये ।
भूयते तन्मयेनैव पुंसा देहोऽस्तु माऽथवा ॥ ८ ॥
बोधाच्चेत्संविदो जातः स दुःखी पुरुषो भवेत् ।
विरुद्धं वेदनं यावत्तावज्जीवोऽङ्ग तन्मयः ॥ ९ ॥
जगच्चिद्व्योमकचनमात्रमेवेति भाविते ।
तत्कथं वेदनं व्योम्ना बोधः कस्य कुतो भवेत् ॥ १० ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त विषयकी समाप्ति कर प्रस्तुत विषयपर आते हैं—'नित्या०' इत्यादिसे ।

हृदयमें जैसी संवित् निरवच्छिन्नरूपसे सदा उदित होती है मनुष्य वैसा ही हो जाता है । देह हो चाहे न हो । भाव यह है कि चार्वाकोंके संमत देहात्मभावमें भी वैसी दृढनिश्चयात्मक संवित्का उदय ही अन्वय और व्यतिरेकसे हेतु है, देह आदि व्यभिचरित होनेसे हेतु नहीं है ॥ ८ ॥

इसी कारण यद्यपि आत्मा सच्चिदानन्दघन है तथापि विरोधी दुःखित्वादिज्ञानकी दृढतासे उसमें दुःखमयता सबको अनुभवसे सिद्ध है, ऐसा कहते हैं—'बोधात्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, यदि संवित्के बोधसे पुरुष दुःखी हुआ है, तो जब तक विरुद्ध दुःखित्व ज्ञान रहेगा तभी तक जीव दुःखमय रहेगा ॥ ९ ॥

यद्यपि जगत् पूर्वोक्त रीतिसे दुःखमय ही है तथापि यह निरतिशयानन्द चिदाकाशका स्फुरणमात्र ही है यों उसकी भावना करनेसे उसके वास्तविक स्वरूपका दर्शन होनेपर भ्रान्तिसे कल्पित दुःखरूपता तथा उसकी दर्शन, दृश्य, दर्शक आदि त्रिपुटीकी शान्ति हो जाती है । देहात्मवादी भी यदि ऐसी भावना करें, तो उनकी भी मुक्ति हो सकती है, इस आशयसे कहते हैं—'जगत्' इत्यादिसे ।

जगत् सच्चिदानन्दरूप ब्रह्मका स्फुरणमात्र ही है ऐसी भावना की जाय तो पहले प्रसिद्ध दुःखादिका वेदन कैसे हो सकेगा ? भला कूटस्थ अद्वितीय चिदाकाशसे कैसे किसको दुःखका बोध होगा ? कोई द्वितीय हो और कोई दुःखका निमित्त हो तभी तो दुःखका संभव है । जब एकमात्र आनन्दघन चिदाकाश ही है तब दुःखबोधकी क्या कथा है ॥ १० ॥

उक्त अर्थमें 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (तत्त्वज्ञानावस्थामें अद्वैतको देख रहे पुरुषको कौन मोह और कौन शोक) इस श्रुतिको अर्थतः उदाहृत करते

न कानिचित्प्रधावन्ति एकनिश्चयसंविदाम्
पुंसां सुखानि दुःखानि रजांसि नभसामिव ॥ ११ ॥
संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा निश्चयस्तावदीदृशः ।
आबालमेतत् संसिद्धं केनाऽपह्नूयते कथम् ॥ १२ ॥
न देहः पुरुषो वाऽपि जीवोऽन्य उपलभ्यते ।
संवित् सर्वमिदं सा तु यथा वेत्ति तथा जगत् ॥ १३ ॥
सा सत्याऽप्यथवाऽसत्या तथा देहोऽनुभूयते ।
स्वातन्त्र्येण यथा स्वप्ने पाताले खे जले दिवि ॥ १४ ॥

हैं—'न कानिचित्' इत्यादिसे ।

एक ब्रह्म ही है ऐसे निश्चयात्मक ज्ञानवाले पुरुषोंको किन्हीं सुख या दुःखोंका ऐसे ही स्पर्श नहीं होता जैसे कि आकाशको धूलियोंका स्पर्श नहीं होता ॥ ११ ॥

अपने अपने दृढ़ निश्चयके अनुसारी पदार्थके अनुभवमें संवित्‌की प्रमाणता और चित्तवृत्तिकी सत्यता ठीक नहीं है, देहात्मभावमें पहलीकी (संवित्‌की) प्रमाणता नहीं है और ब्रह्मसाक्षात्कारवृत्तिमें दूसरी (चित्तवृत्तिकी सत्यता) नहीं है इस आशयसे कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

संवित् सत्य (प्रमा) है और चित्तवृत्ति सत्य (अबाधित) है ऐसा दोनोंका नियम नहीं है । किन्तु निश्चय इस तरहके सत् और असत् अर्थके अनुभवमें कारण होता ही है, यह आबालवृद्ध प्रसिद्ध है। इसका कौन कैसे अपलाप कर सकता है। भाव यह कि अनुभव विरुद्धका आश्रय लेकर अनुभवका अपलाप नहीं किया जा सकता ॥ १२ ॥

इसलिए सकलवादियोंके अभिमत तत्-तत् वेषोंको धारण करनेमें समर्थ संवित् ही आत्मा है, ऐसा सब वादियोंको समझाकर सब कृतकृत्य (सफलमनोरथ) किये जा सकते हैं, इस अभिप्रायसे कहते हैं—'न देहः' इत्यादिसे ।

चार्वाकोंका अभिमत शरीर, सांख्योंका अभिमत पुरुष और मीमांसक आदिका अभिमत जीव या भोक्ता संवित्‌से पृथक् उपलब्ध नहीं होता, अतः सब वादियोंके कल्पनास्थान देह आदि संवित् ही हैं । वह (संवित्) जैसा अनुभव करती है वैसा ही जगत् हो जाता है ॥ १३ ॥

वह संवित् सत्य हो अथवा असत्य हो उसे केवल अपनी कल्पना द्वारा (पृथिवी आदि कारणोंकी अपेक्षा करके नहीं) ऐसे देहका अनुभव होता है जैसे

संवित् सत्याऽस्त्वसत्या वा तावन्मात्रः स्मृतः पुमान् ।
स यथानिश्चयो नूनं तत् सत्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥
प्रामाण्यं सर्वशास्त्राणामेतेनैव प्रसिद्ध्यति ।
सर्वसिद्धान्तसिद्धान्त एष एवेति मे मतिः ॥ १६ ॥
तस्मादबोधता याऽऽस्ते यथा संवित्तथैव सा ।
भवत्यकलुषाकारा तथैव फलभागिनी ॥ १७ ॥
देशकालक्रियाद्रव्यवेदशास्त्रैषणाभ्रमैः ।
अबोधता तु या संवित्कदाचित्सा न नश्यति ॥ १८ ॥

स्वप्नमें, पातालमें, आकाशमें, जलमें और स्वर्गमें केवल कल्पनासे ही देहका अनुभव होता है ॥ १४ ॥

संवित् चाहे सत्य हो, चाहे असत्य हो, संविद्मात्र ही आत्मा है। उक्त संवित्मात्र आत्मा जिस प्रकारके निश्चयवाला होता है वह सत्य (उसकी क्रिया [व्यवहारक्रिया] में समर्थ) होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है ॥ १५ ॥

संवित् ही जब सब वादियोंके अभिमत आत्मादिके रूपसे स्थित होती है तो ऐसी परिस्थितिमें सत्य होने और उसके द्वारा कल्पित पदार्थोंके तत्-तत् अभिमत अर्थक्रियामें समर्थ होनेके कारण पूर्वोक्त सकलशास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण ही रहा, यह कहते हैं—**'प्रामाण्यम्'** इत्यादिसे ।

संविद्-मात्र आत्मासे ही सब शास्त्रोंका प्रामाण्य अक्षुण्ण होता है और यह संविद्-अद्वैतात्मवाद सिद्धान्त ही सब वादियोंका उपजीव्य होने और पुरुषार्थहेतु होनेसे सब सिद्धान्तोंका शिरोमणि सिद्धान्त है ॥ १६ ॥

तो क्या संवित् ही तत्-तत् वादियोंके अभिमत देहादिके आकारसे तत्-तत्-निश्चयके अनुसार परिणत होती है ? इसपर नकारात्मक उत्तर देते हैं—**'तस्मात्'** इत्यादिसे ।

संवित्में जो अबोधता यानी अविद्या है, वही तत्-तत् वादियोंकी जैसी संवित् होती है परिणाम द्वारा प्रवृत्ति आदिके समय वैसे ही बन जाती है । वही जब तत्त्वज्ञान रूपसे परिणाम होनेपर निर्मल शुद्ध चिदाकार हो जाती है तब मोक्षफलभागिनी बन जाती है ॥ १७ ॥

इसलिए पुण्य तीर्थ, पुण्य पर्व आदि देश कालमें स्नान, दान आदि कर्मोंसे, रसायन, मन्त्र, ओषधि आदि द्रव्योंसे, कर्मशास्त्र द्वारा उपदिष्ट लोकैषणा, धनैषणा

आविर्भवति सा भूयः क्षीणाशङ्का क्षणेन चेत् ।
तत्केन संविदो दुःखं कदा नामोपशाम्यति ॥ १९ ॥
संविदेव नृणां जीवः स यदा दृढभावनः ।
तथा सुखी वा दुःखी वा भवेदित्येष निश्चयः ॥ २० ॥
संविच्चेदस्ति तज्ज्ञानां शरणं भवभेदने ।
नास्ति चेत्तच्छिलामूकमान्ध्यमेवाऽवशिष्यते ॥ २१ ॥
यत्तयैव च संवित्त्या वेदनेनैव लभ्यते ।
अयं स्वभावज्ञप्त्याऽन्तर्जाड्यं पुंसेव निद्रया ॥ २२ ॥

और पुत्रैषणा रूप भ्रान्तियोंसे वह अबोधता और उससे उत्पन्न विक्षेपसंवित् कभी भी नष्ट नहीं होती ॥ १८ ॥

बोध होनेपर जब अविद्या छिन्न-भिन्न हो चुकी पुनः उसके आविर्भावमें कोई कारण नहीं है और दूसरी बात यह भी है कि यदि उसका पुनः आविर्भाव माना जाय, तो मोक्ष कभी होगा ही नहीं, क्योंकि जब-जब ज्ञान द्वारा वह बाधित होगी, पुनः उसका आविर्भाव हो जायगा, ऐसा कहते हैं—'आविर्भवति' इत्यादिसे ।

आत्यन्तिक बाधसे क्षीण हुई अविद्याकी पुनः प्राप्तिकी आशङ्का भी नहीं है । यदि अविद्या एक बार बाधित होकर पुनः क्षणभरमें आविर्भूत हो जायगी, तो जीवका दुःख कब किससे शान्त होगा यानी कभी भी किसीसे भी शान्त न हो सकेगा ॥ १९ ॥

संवित् ही मनुष्योंका जीव (जीवात्मा) है उसकी जैसी दृढ़ भावना होती है वैसा ही पुरुष सुखी या दुःखी होगा, ऐसा निश्चय है ॥ २० ॥

प्रत्यगात्मरूप संवित् ही जब तत्त्वतः ज्ञात होती है तब अपने कार्यभूत बन्धको दूर करती है, इसलिए मुमुक्षु लोगोंकी वही शरण है । उसके अभावमें सारा जगत् अन्धकारपूर्ण हो जायगा । मोक्षकी आशा तो दुराशा ही हो जायगी, ऐसा कहते हैं—'संवित्' इत्यादिसे ।

संवित्का यदि अस्तित्व है तो ज्ञानियोंके संसारनाशमें वही शरण है, यदि वह नहीं है, तो शिलाके समान जड़ अन्धकार ही अन्धकार शेष रह जाता है ॥ २१ ॥

कैसे अन्धकार ही शेष रह जाता है? ऐसा कोई प्रश्न करे तो उसपर कहते हैं— 'यत्तयैव' इत्यादिसे ।

चूँकि स्वप्रकाशरूप उसीसे प्रत्यगात्मसंवित् रूप जीवको निद्रा द्वारा अपनी

श्रीराम उवाच

दिक्त्वधस्ताच्च नाऽन्तोऽस्या भावी नाऽपि जगत्क्षयः।
अस्तीति भावितं येन संत्यक्ताभावबुद्धिना ॥ २३ ॥
विज्ञानघनमेवेदमिति नूनमपश्यता।
पश्यता च यथादृष्टं सर्वत्त्वयमपश्यता ॥ २४ ॥
तस्य स्यात्कीदृशी ब्रह्मन्युक्तिराधिविनाशने।
इति मे संशयं छिन्धि भूयो बोधाभिवृद्धये ॥ २५ ॥

वसिष्ठ उवाच

अत्रैकं तावदुचितं पूर्वमेव तथोत्तरम्।
द्वितीयमुत्तरं न्याय्यं वक्ष्यमाणमिदं शृणु ॥ २६ ॥

जड़ताके सदृश अन्धकार तुल्य अज्ञानसे ही यह प्रपञ्च प्राप्त हुआ है, यदि संवित्का अपलाप किया जाय, तो असाक्षिक अन्धकार ही शेष रह जायगा ॥ २२ ॥

कभी भी इससे विलक्षण जगत् नहीं था यानी जगत्का अभाव नहीं था ऐसा मानकर जो महाप्रलय नहीं मानते वे शास्त्रशून्य मुरदे ही हैं, यों आपने पूर्वमें जिनकी निन्दा की है, उनके मतके अनुसारी दृढ़ निश्चयवाले लोगोंको तत्त्वज्ञान-प्राप्तिमें युक्ति है या नहीं इस विषयमें सन्देह कर रहे श्रीरामचन्द्रजी पूछते हैं— 'दिक्ष्व०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—ब्रह्मन्, इस सृष्टिका पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि आठ दिशाओंमें ऊर्ध्व दिशामें (ऊपर) और नीचे भी अन्त नहीं हैं, न यह आगे उत्पन्न होनेवाली ही है और न इसका नाश ही होता है इस तरह जगत्के प्राग् अभाव, प्रध्वंसाभाव और अत्यन्ताभाव—इन तीनों अभावोंको तिलाञ्जलि दे चुके, यह सब विज्ञानघन ही है, यों इसे परमार्थतत्त्वरूप न देख रहे, जैसा जगत् दीख रहा है, वही सत्य है यों समझ रहे और जगत्का विनाश न देख रहे जिस पुरुषने जगत्की उक्तरीतिसे सत्यताकी भावना की, उसके संसाररूपी दुःखकी निवृत्तिमें कैसी युक्ति है? हे ब्रह्मन्, बोधकी वृद्धिके लिए मेरे इस सन्देहको पुनः निवृत्त करनेकी कृपा कीजिये ॥ २३—२५ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—श्रीरामजी, यहाँपर एक तो पूर्वोक्त ही (शास्त्रशून्य वे हम तत्त्वज्ञानियोंकी दृष्टिमें मृतकसे ही हैं, उनके साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिये यही) उत्तर उचित है अथवा पहले पूर्ववादीके प्रति जो 'यं यं निश्चयमादत्ते

ईदृग्भावस्त्वया प्रोक्तो यः पुमान् पुरुषोत्तम ।
स तावच्चेतनामात्रं भवतीत्यनुभूयते ॥ २७ ॥
स चाऽऽकारविनाशेन युज्यते नाऽत्र संशयः ।
अथाऽविनाशो देहश्चेत्तद्दुःखस्याऽत्र कः क्रमः ॥ २८ ॥
भवेद् भागविभागात्मविनाशस्त्वविचारितः ।
अवश्यं तस्य भवति किलेति ननु निश्चयः ॥ २९ ॥

संविदन्तरखण्डितम्' इत्यादि उत्तर कहा है, वही उचित है। ऐसी परिस्थितिमें चैतन्यसे जबतक संवित्का सम्बन्ध नहीं होगा तब तक तो उसका वैसा निश्चय हो सकना संभव नहीं है, अतः उसे भी थोड़ा बहुत चैतन्यका बोध कराकर पूर्व निश्चय उसीका विवर्त है यों व्युत्पत्ति कराकर उसके अनुभवमें अखण्ड आनन्दघन उतारा जा सकता है ॥ २६ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ, इस प्रकारके आशयवाले जिस पुरुषका आपने प्रतिपादन किया है क्या वह देहसे अतिरिक्त चेतनको आत्मा माननेवाला है, या नित्य आतिवाहिक सूक्ष्म देहको आत्मा माननेवाला है, या स्थूल देहको आत्मा माननेवाला है, या शुद्ध संवित्को आत्मा माननेवाला है, या अज्ञानसे आवृत संवित्को आत्मा माननेवाला है या संवित्का अपलाप करनेवाला है। यदि वह चेतनामात्रका (चिदाभासरूपका) अस्तित्व स्वीकार करता है तो उसे क्रमसे आत्मतत्त्वका अनुभव होता ही है, उसके संसारसे उद्धारमें कोई कठिनाई नहीं है; क्योंकि देहादि आकारवाली उपाधिका विनाश होनेसे वह परमात्माके साथ मिल जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। यदि उसकी विनाशी अन्नमय देहमें आत्मबुद्धि हो, तो उसे चारों ओरसे विनाशकी शङ्कासे दुःख होगा ही। यदि अविनाशीमें आत्मत्वका निश्चय हो तो उसे देहाकार समझने मात्र अपराधसे उसको दुःखप्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रकार क्रमशः उपदेश देनेपर—ज्ञानचर्चा सुनानेपर—वह भी आत्मतत्त्वको प्राप्त हो ही जायगा ॥ २७, २८ ॥

तीसरे पक्षमें कहते हैं—'भवेद्' इत्यादिसे।

अवयवघटित स्थूल शरीरको आत्मा समझनेवालेने स्थूल देहके अवश्यम्भावी विनाशका विचार नहीं किया। जो वस्तु सावयव होती है, उसका विनाश तो किसीके रोके रोका नहीं जा सकता है—अवश्यम्भावी है। इससे वह भी स्थूल देहसे अतिरिक्त आत्माको मानता है, यह सिद्ध होता है ॥ २९ ॥

मृतः स संविदात्मत्वाद्भूयो नो वेत्ति संसृतिम्।
ज्ञानधौता न या संविन्न सा तिष्ठत्यसंसृतिः ॥ ३० ॥
अथवा नास्ति संवित्तिरिति निश्चयवान् यदि।
ततस्तादृग्वेदनतो भवत्येव दृषज्जडः ॥ ३१ ॥
यथावेदनमर्थेषु चित्त्वे देहक्षयात् क्षते।
मृतिरेव परं श्रेयो दृष्टं नाऽनुभवादिति ॥ ३२ ॥
असंभवच्छुद्धविदो निःशरीरा भवन्ति ये।
जडभावा जडीभूय दुर्भेदान्ध्या भवन्ति ते ॥ ३३ ॥

चतुर्थ पक्षमें कहते हैं—'मृतः' इत्यादिसे।

शुद्धसंवित्को आत्मा माननेवाला जीवन्मुक्त सदा सब जगह लीलासे जगत्का दर्शन करता हुआ भी मृत्युके बाद विदेहतामात्रसे कैवल्यको प्राप्त होकर फिर संसारको नहीं जानता है—नहीं देखता है। जो संवित् तत्त्वज्ञानसे शुद्ध नहीं है, वह संसारकी प्राप्तिके बीजका नाश न होनेसे संसारके विना नहीं रहती, अवश्य संसारमें आती है। उसका भी किसी न किसी जन्ममें ज्ञानका उदय होनेसे संसारसे निस्तार हो जाता है ॥ ३० ॥

छठे पक्षमें कहते हैं—'अथवा' इत्यादिसे।

अथवा यदि 'संवित्ति नहीं है' इस प्रकारका निश्चयवाला (संवित्का अपलाप करनेवाला) हो तो इस प्रकारके ज्ञानसे वह चिरकालतक पत्थरके समान जड़ होता ही है ॥ ३१ ॥

उसने उस अवस्थामें क्या अथवा कैसा श्रेय देखा ? इसपर कहते हैं—'यथावेदनम्' इत्यादिसे।

मरणपर्यन्त दृढीकृत अपने उक्त ज्ञानके अनुसार ही देहपातके बाद विशेष विज्ञान जब नष्ट हो गया तब गाढ़ सुषुप्तिके सदृश मृत्युको हो (नैयायिकोंके मोक्षके तुल्य) दुःखशून्य होने से उसने परम श्रेय समझा, किन्तु निरतिशय आनन्दके अनुभवसे उस मूर्खने श्रेयका दर्शन नहीं किया ॥ ३२ ॥

जो शून्यवादी हैं, जिनका आत्माके अभावमें दृढ निश्चय है, वे जब मरते हैं तब किस गतिको जाते हैं ? इसपर कहते हैं—'असम्भवात्' इत्यादिसे।

जिनके मतमें शुद्धसंवित्के अस्तित्वका संभव नहीं है, वे जब शरीररहित होते हैं यानी मरते हैं तब जड़को तत्त्व माननेवाले वे जड़ होकर दुर्भेद्य अन्धकारसे

ये चाऽपि स्वप्नपुरवत्सर्वं पश्यन्ति चिन्मयाः ।
तेषामिदमिवाऽशेषं जगज्जालं प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
स्थैर्यास्थैर्येण भूतानां किमपूर्वमतो भवेत् ।
भूतस्थैर्ये तथाऽस्थैर्ये सुखं चैवाऽसुखं समम् ॥ ३५ ॥
स्थिरमस्त्वस्थिरं वाऽपि मह्यादि महतामपि ।
चिद्भामात्रमिदं भाति यावदज्ञानमाततम् ॥ ३६ ॥

पूर्ण होते हैं। इस विषयमें श्रुति भी है—'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः। तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' (जो अज्ञानी लोग हैं वे लोग मरकर गाढ़ अन्धकारसे आच्छन्न असुर्य नामक लोकोंमें जाते हैं) ॥ ३३ ॥

जो विज्ञानवादी लोग क्षणिक विज्ञानमय जगत् स्वप्ननगरके तुल्य है, यह मानते हैं, उनको भी व्यवहारसिद्धि पूर्वोक्त मतवालेके समान है, ऐसा कहते हैं—**'ये'** चापि इत्यादिसे।

क्षणिक और विकारी चित्को आत्मा माननेवाले जो विज्ञानवादी लोग सम्पूर्ण जगत्को स्वप्ननगरके समान देखते हैं, उनका यह साराका सारा जगज्जाल प्रवृत्त हो रहता है, निवृत्त नहीं होता ॥ ३४ ॥

जो लोग जगत्को स्थिर मानते हैं और जो लोग क्षणिक मानते हैं, उन दोनोंके ही सुख-दुःखभोगपर्यन्त सभी व्यवहार समान हैं, यह कहते हैं—**'स्थैर्या०'** इत्यादिसे।

स्थिरता और क्षणिकतासे जगद्व्यवहारवैचित्र्यबुद्धिमें क्या अन्तर होगा? भूत चाहे स्थिर हों चाहे अस्थिर (क्षणिक) हों, सुख और दुःख तो समान ही होंगे ॥ ३५ ॥

तत्त्वज्ञानियोंका भूमि आदि भूतोंकी क्षणिकता और स्थिरतामें कोई आग्रह नहीं है। अध्यस्त पदार्थ केवल अधिष्ठान ब्रह्मसे ही सारवान् है। इसलिए शुक्ति और रजतके मूल्यके विचारकी भाँति उसकी स्थिरता और अस्थिरताका विचार व्यर्थ है, इस अभिप्रायसे कहते हैं—**'स्थिरम्'** इत्यादिसे।

पृथिवी आदि महाभूत स्थिर हों चाहे अस्थिर हों ये केवल चिद्भानरूप ही हैं। जब तक अज्ञानका साम्राज्य है, तभी तक इनकी प्रतीति होती है ॥ ३६ ॥

संवित् क्षणिक नहीं है, क्योंकि वह अपने अनस्तित्वरूप नाश और जड़ताको व्याप्त नहीं कर सकती, संवित्की व्याप्तिके बिना उन दोनोंकी सिद्धि नहीं हो सकती, अतः संवित्के क्षणिकत्वका कथन संभव नहीं है, यह कहते हैं—**'संवित्'** इत्यादिसे।

संविदा संविदोऽसत्तामिहाऽव्याप्य विनष्टया ।
निर्णीयाऽङ्गीकृतं यैर्वा जाड्यं तद्बालकैरलम् ॥ ३७ ॥

येषां विद्भ्यः शरीराणि ते वन्द्याः पुरुषोत्तमाः ।
शरीरेभ्यो विदो येषां तैरलं पुरुषाधमैः ॥ ३८ ॥

चिद्रूपो जीवबीजौघ आकाशक्रमिजालवत् ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधो याति पूर्यमाण इव स्वयम् ॥ ३९ ॥

जिन्होंने कालतः असत्ता क्षणिकता और देशतः असत्ता जड़ता दोनोंका स्पर्श किये बिना ही नष्ट हुई क्षणिकत्वाभिमतसंवित्से संवित्की जड़ता और क्षणिकताका निर्णयपूर्वक स्वीकार किया है, इस प्रकारके मूर्खोंसे संभाषण तक नहीं करना चाहिये ॥ ३७ ॥

इसलिए कूटस्थ चित्से विवर्त रूपसे चिद्से व्याप्त देहपर्यन्त जड़प्रपञ्चकी उत्पत्ति माननेवाले धन्य हैं, क्योंकि उनके मतमें 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' वाचारम्भणन्यायसे विकारको असत्य समझनेपर चित् ही अवशिष्ट रहती है । अचिद्रू देह आदिसे चित्की उत्पत्ति माननेवाले चार्वाक, नैयायिक आदि मूर्ख हैं । चित्के विनाशसे जड़का परिशेष न तो पुरुषार्थ है और न पुरुषार्थका साधन ही है, इस आशयसे कहते हैं—'येषाम्' इत्यादिसे ।

जिनके मतमें चित्से शरीरोंकी उत्पत्ति है, वे पुरुषश्रेष्ठ वन्दनीय हैं । जिनके मतमें शरीरसे चित्की उत्पत्ति होती है, उन पुरुषाधमोंसे भाषण करना भी ठीक नहीं है ॥ ३८ ॥

जीवसमष्टिरूप एक हिरण्यगर्भ ही नाना जीवोंके रूपसे ऊपर नीचे लोकोंमें गमन आदि द्वारा संसारी बनता है, यह कल्पना भी समुचित है, ऐसा कहते हैं—'चिद्रूपः' इत्यादिसे ।

जैसे माट, मटकोंमें भरी जा रही जलराशि ऊपर, नीचे और तिरछे जाती है वैसे ही चिद्रूप जीवसमष्टि हिरण्यगर्भ ही मच्छड़ोंके समूहकी तरह तिरछे, ऊपर और नीचेके लोकोंमें गमन, आगमन द्वारा संसारको प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥

हिरण्यगर्भकी जो कर्तृरूप नाना जीवोंका समष्टिरूपता है, वह भी हिरण्यगर्भचित्की स्वकल्पनाके आग्रह वश ही है, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—'चेतयते' इत्यादिसे ।

चेत्यते येन कर्ताऽन्यो बीजौघेन स तत्परः ।
तथैवाऽनुभवत्यन्तः स्वयमेव विवल्गति ॥ ४० ॥

यद्यथा चेत्यते येन तज्जीवेनाऽऽशु तेन तत् ।
चिद्रूपेणाऽऽप्यते सिद्धमेतदाबालमक्षतम् ॥ ४१ ॥

यथा धूमस्य नभसि यथाम्भोधौ महाम्भसः ।
आवर्तवृत्तयश्चित्रास्तथा चिद्व्योम्नि संसृतेः ॥ ४२ ॥

पुरी भवति चिद्व्योम यथा स्वप्ने नरं प्रति ।
तथाऽऽदिसर्गात्प्रभृति तदेवेदं जगत् स्थितम् ॥ ४३ ॥

जो हिरण्यगर्भरूप चिदाभास बीजौघभावसे अपनी समष्टिताकी भावना कर उनकी वासनाके अनुसार ही सृष्टिके आदिमें बहुत प्रकारसे भिन्न व्यष्टिरूप कर्त्ताकी अपने अन्तःकरणमें भावना करता है, वह उक्त भावनामें आसक्त होकर उसी भावनासे नाना कर्तृरूपका अन्तःकरणमें स्वयं ही अनुभव करता है और जैसा अनुभव करता है वैसे ही संसारको प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

इस प्रकारसे भी वही सिद्ध हुआ जिसकी हमने पहले प्रतिज्ञा की थी, ऐसा कहते हैं—'**यद्यथा**' इत्यादिसे ।

जो जिस पदार्थकी जिस प्रकार भावना करता है, चिद्रूप वह जीव शीघ्र ही उसको प्राप्त होता है, यह बात बालकोंसे लेकर बड़े-बूढ़ों तक सबपर प्रसिद्ध है ॥४१॥

इसलिए उन जीवचैतन्योंकी विचित्र विचित्र वासनाओंके अनुरूप तत्-तत् सृष्टिके चेतनोंकी विचित्रतासे अनन्त सृष्टिवैचित्र्य है, यह कहते हैं—'**यथा**' इत्यादिसे ।

जैसे आकाशमें धुंएकी विचित्र विचित्र भ्रमियाँ (आवर्त) होती हैं और जैसे महासागरमें जलराशिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें चिदाकाशमें जगत्सृष्टिकी विचित्र भ्रमियाँ होती हैं ॥ ४२ ॥

जैसे स्वप्नमें चिदाकाश ही मनुष्यके प्रति नगरीका रूप धारण करता है वैसे ही आदि सृष्टिसे लेकर चिदाकाश ही जगत्का रूप धारण कर स्थित है ॥ ४३ ॥

सहकारी कारणोंके बिना ही सृष्टिके आदिमें केवल प्रतिभामात्रसे सिद्ध होनेके कारण भी जगत्की स्वप्नसमता ही है, ऐसा कहते हैं—'**सहकारि०**' इत्यादिसे ।

सहकारिनिमित्तानि यथा स्वप्ने न सन्ति वै।
पृथिव्यादीनि भूतानि तथैवाऽऽदौ जगत्स्थितेः ॥ ४४ ॥
अज्ञानां स्वप्ननगरे वसुधा विविधाः कृताः।
यास्ता एव जगत्स्वप्ननगरे पुष्टतां गताः ॥ ४५ ॥
चिन्मात्राकाशमेवेमाः प्रजा द्वैतैक्यवर्जिताः।
केवाऽत्र रञ्जनाऽन्या खे यद्वाभाति खमेव तत् ॥ ४६ ॥
चिच्चन्द्रिका चतुर्दिक्कं शीतलाऽऽह्लादकारिणी।
तनोति चेतनालोकं तस्येदं कचनं जगत् ॥ ४७ ॥
अद्यैवाऽऽद्यन्तयोर्व्योम्नि चिन्मये सर्गदर्शनम्।
चिदुन्मेषनिमेषाभ्यां खात्मोदेत्यस्तमेति च ॥ ४८ ॥

जैसे स्वप्नमें स्वप्ननगर आदिकी उत्पत्तिके लिए सहकारी कारण नहीं हैं वैसे ही सृष्टिके आरम्भमें जगत्स्थितिके सहकारी कारण पृथिवी, आदि महाभूत नहीं हैं ॥ ४४ ॥

स्वप्ननगरमें नगरके अवयवरूप महल, घर आदिके उत्तरोत्तर भूमिका-भेद जो अर्धविकासवश अपूर्ण किये गये थे, वे ही जगत्‌रूपी स्वप्ननगरमें पूर्ण विकास द्वारा पुष्टताको प्राप्त हुए हैं ॥ ४५ ॥

द्वैत और ऐक्यसे विहीन ये सकल प्रजाजन चिदाकाशरूप ही हैं। चिदाकाशमें दूसरी रंजना (राग—द्वैतलेश) क्या हो सकता है। जो यहाँपर द्वैत-सा मालूम पड़ता है वह सब चिदाकाश ही है ॥ ४६ ॥

त्रिविध तापकी शान्ति करनेके कारण शीतल, आह्लादजनक चित्‌रूपी चाँदनी चारों ओर चेतनारूपी प्रकाश (पदार्थप्रतीतिरूपी प्रकाश) बखेर रही है। उक्त चेतनारूपी आलोकका ही पदार्थरूपसे स्फुरण यह जगत् है ॥ ४७ ॥

सृष्टिके पूर्व और सृष्टिके बाद (प्रलयमें) सृष्टि रहित स्वभाववाले चिन्मय आकाशमें केवल आज ही (वर्तमान क्षणमें ही) सृष्टिका दर्शन प्रसिद्ध है। और वह आकाशरूप ब्रह्म ही है। वह आत्मचित्‌के परिच्छिन्नरूपसे उन्मेष होनेपर पलक भरमें स्वप्नके तुल्य उदित होता है और आत्मचित्‌के अपरिच्छिन्नरूपसे निमेष होनेपर अपने आप स्वप्नकी भाँति अस्त हो जाता है ॥ ४८ ॥

चित् यदि अपनी सत्ताके बलसे सत् बना कर जगत्‌को देखती है तब तो कुछ भी असत् नहीं कहा जा सकता है, ऐसा कहते हैं—'यत्' इत्यादिसे।

यद्यथा वेत्ति यत्तत्सत्तथैवाऽनुभवत्यलम् ।
यस्मात्समस्तं चिन्मात्रं किमिवाऽत्र न विद्यते ॥ ४९ ॥

शरदाकाशविशदं संविदः सौम्यमानसाः ।
असन्त एव तिष्ठन्ति सन्तोऽधिगततत्पदाः ॥ ५० ॥

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः
प्रवाहसंप्राप्तनिजार्थभाजः ।
तिष्ठन्ति कार्यंव्यवहारदृष्टौ
निरामया यन्त्रमया इवैते ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपायेषु निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे नास्तिक्यनिराकरणं नाम शततमः सर्गः ॥ १०० ॥

श्रुतिप्रसिद्ध सत् वस्तु (चिति) यतः जिस जिस वस्तुको सृष्टिके आदिमें जैसा जैसा जानती है, उसका आज भी वैसा ही अनुभव करती है, इसलिये सारा‌का सारा जगत् चित्मात्र उसमें नहीं है क्या ? जो कि वह असत्य होगा ? ॥ ४९ ॥

शरत् ऋतुके समान निर्मल ज्ञानवाले शान्तचित्त तथा परम तत्त्वका साक्षात्कार कर चुके पुरुष चित्से पृथक्रूपसे असत् ही हैं और चिद्रूपसे तो सत् ही हैं ॥ ५० ॥

उनकी उस प्रकारकी स्थितिकी लक्षण द्वारा पहचान कराते हैं—**'निर्मान॰'** इत्यादिसे ।

मान और मोहसे विहीन, संगरूपी दोषपर विजय पा चुके (स्त्री, पुत्र आदिकी आसक्तिसे रहित), लोकप्रवाहवश आत्मकर्तव्य करनेवाले और दोषलेशरहित महापुरुष यन्त्रमय (पुरुषप्रतिमा) के समान हैं, वे औरोंकी कार्यव्यवहारदृष्टिमें स्थित होते हैं ॥ ५१ ॥

सौ सर्ग समाप्त

एकाधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

चिन्मात्रमेव पुरुषस्तदेवेत्थमवस्थितम् ।
चिन्मात्रव्यतिरेकेण किमन्यदुपपद्यते ॥ १ ॥
तच्चाऽवदातमाकाशं तन्मये द्रष्टृदृश्यते ।
तावन्मात्रं जगदतो हेयोपादेयधीः कुतः ॥ २ ॥
न विद्यते परो लोको बार्हस्पत्यस्य यस्य तु ।
विदोऽन्यत्तस्य किं सारं रागद्वेषावतः कुतः ॥ ३ ॥

एक सौ एक सर्ग

[सर्वत्र सदा निर्मल संवित्‌रूपी एक आत्माका साक्षात्कार कर रहे पुरुषकी, भयके हेतुओंकी प्राप्ति न होनेसे, निर्भयस्थितिका वर्णन]।

केवल चिन्मात्र ही तत्त्व है, ऐसा ज्ञान हो जानेपर सभी वादियोंकी अभय पदमें जिस तरह प्रतिष्ठा प्राप्त हो जाय, वैसा वर्णन करनेके लिए भूमिका रचते हैं—'**चिन्मात्रमेव**' इत्यादिसे ।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्र ही पुरुष है। वही नाना वादियों द्वारा परिकल्पित स्थायी तथा क्षणिक आदिरूपसे एवं जन्म, मरण, भय, शोक आदिके रूपसे अवस्थित है ॥ १ ॥

उसीका उपपादन करते हुए उसका फल कहते हैं—'**तच्च**' इत्यादिसे ।

और वह चिन्मात्र निर्मल आकाश ही है। द्रष्टा और दृश्य, ये दोनों उसके विवर्तभूत हैं। चिन्मात्र ही जब यह जगत् है ! तब हे श्रीरामचन्द्रजी इसमें हेय और उपादेय बुद्धि कहाँसे हो सकती है ? ॥ २ ॥

हेय और उपादेयके अभावमें राग और द्वेषकी प्रसिद्धि नहीं होती—यह विज्ञानैकस्कन्धवादी बौद्धको भी सम्मत है, किन्तु क्षणिक विज्ञान असार है, इसलिए उसका मत उपेक्षणीय है, यह कहते हैं—'**न विद्यते**' इत्यादिसे ।

बृहस्पति द्वारा * प्रणीत बुद्धशास्त्रके अनुगामी जिस क्षणिकवादी बौद्धके मतसे क्षणिक विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, उसके मतमें भी विषयोंका सर्वथा

* बृहस्पतिने रजिपुत्रों तथा असुरोंको विमोहित करनेके लिए बुद्धशास्त्रकी रचना की थी, यह मत्स्यपुराण आदिमें प्रसिद्ध है ।

इष्टानिष्टदृशो रागद्वेषदोषाः किमात्मकाः ।
संविद्व्योममये स्वप्ने जगदाख्येऽङ्ग कथ्यताम् ॥ ४ ॥
इदं हेयमुपादेयं वेति संवित्खमात्मनि ।
निर्मले निर्मलं भाति केवात्र तदतद्दृशौ ॥ ५ ॥
संविन्नरोऽमरो नागः संवित्स्थावरजंगमम् ।
भावाभावादयोऽस्याब्धेस्तरङ्गावर्तवृत्तयः ॥ ६ ॥

अभाव होनेके कारण ही राग-द्वेष कहाँसे हो सकते हैं, उनकी प्राप्ति ही नहीं है। किन्तु संवित्से अन्य उसके मतमें नित्य पुरुषार्थरूप सार ही क्या है, जिसकी कि संभावनासे वह उस संवित्की नित्यता स्वीकार नहीं करता † ॥ ३ ॥

कूटस्थ संवित्का ही विवर्तरूप स्वप्न जगत् है, इस हमारे सिद्धान्तमें तो राग-द्वेषकी किसी तरह प्राप्ति है ही नहीं, यह कहते हैं—**'इष्टानिष्टदृशः'** इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, हम वेदान्तियोंके मतमें तो यह जगत् नामका स्वप्न संविदाकाशमय ही है, इसमें इष्ट और अनिष्टकी दृष्टियाँ (यह इष्ट है यह अनिष्ट है इस प्रकार की प्रतीतियाँ) तथा तन्मूलक राग और द्वेष किस आकारके होंगे, यह कहिये ॥ ४ ॥

अथवा यह हेय है और यह उपादेय है यों विकल्पाध्यास भले ही रहे, तो भी संविदाकाशमें कोई अन्तर नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—**'इदम्'** इत्यादिसे।

यह हेय है अथवा यह उपादेय है, यह विकल्पाध्यास भी निर्मल संविदाकाशरूप ही है। उक्त निर्मल संविदाकाश भी निर्मल आत्मामें (संविदाकाशमें) ही अवभासित हो रहा है, अतः यहाँपर यह इष्ट या यह अनिष्ट है यों दो तरहकी दृष्टि कैसी ? ॥ ५ ॥

संसारके सभी पदार्थ एकमात्र अविनाशी संविद्रूप ही हैं, इसलिए उनके जन्म, मरण आदिकी भी संभावना नहीं हो सकती, यह कहते हैं—**'संविन्नरो०'** इत्यादि दो श्लोकोंसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, नर, अमर, नाग, स्थावर, तथा जंगम—ये सबके सब

† विज्ञानसे अतिरिक्त जगत् नहीं है, यह तो वह भी मानता है, लेकिन विज्ञानको वह नित्य नहीं मानता, क्षणिक मानता है, सिर्फ इसी एक उसके क्षणिक अंश में हमें वाद है।

संविदाकाशमेवाऽहं भवानपि जना अपि ।
म्रियामहे नो कदाचित् संवित्किल कदा मृता ॥ ७ ॥
संविदो नाऽस्ति संवेद्यं स्वयं संवेद्यतामिता ।
चित्त्वादतो विशालाक्ष द्वितैकत्वे क वा स्थिते ॥ ८ ॥
संविन्मात्रादृते तस्माद्भूतं किमिव कथ्यताम् ।
कथ्यतां म्रियते तच्चेत्तदद्येमे कुतो वयम् ॥ ९ ॥
वादिनः सौगताद्या ये ये लोकायतिकादयः ।
संविदाकाशमुत्सृज्य यन्मयन्ते तदुच्यताम् ॥ १० ॥

संविद्रूप ही हैं । भाव, अभाव, * आदि भी इसी संविद्रूप सागरकी तरङ्ग, ऊर्मि आदि वृत्तियाँ हैं ॥ ६ ॥

मैं संविदाकाशरूप ही हूँ, आप भी संविदाकाशरूप ही हैं तथा हम दोनोंके अतिरिक्त ये जितने जीव हैं, हे श्रीरामचन्द्रजी, वे भी सब संविदाकाशरूप ही हैं । हम लोग कभी मरते नहीं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । बतलाइये तो सही संवित् क्या आजतक कभी मरी है ? ॥ ७ ॥

सभी संविद्रूप हैं जब यह एक निश्चित सिद्धान्त है तब संवित्से भिन्न संवेद्य बचता ही क्या है, अपनेमें ही स्वसंवेद्यताकी कल्पना तो अपने कन्धेपर अपनेको चढ़ा लेनेकी कल्पनाके सदृश ही है, यह कहते हैं—'संविदो' इत्यादिसे ।

हे विशालनयन श्रीरामचन्द्रजी, संवित्का कोई संवेद्य नहीं है । यदि स्वयं ही यह संवित् संवेद्यताको प्राप्त हो तो चिद्रूप इससे अन्य संवेद्यतालक्षण क्रिया-कर्म-भेदरूप द्वित्व अथवा उससे व्यावृत्त एकत्व—ये दोनों कहाँ रहे ॥ ८ ॥

कहिये, उस संवित्के अतिरिक्त नित्य सद्वस्तु क्या है ? और आप यह भी कहिये कि यदि वह मरती है, तो फिर आज ये हम लोग जी कैसे रहे हैं ? ॥ ९ ॥

इन सब बातोंका निचोड़ यह निकला कि संविदाकाश ही सभी वादियोंके अपने-अपने अभिमत पदार्थोंके आकारसे सर्वत्र प्रतीत होता है । उसके बिना अन्य कोई गति नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'वादिनः' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामजी, सौगत आदि जो वादी हैं तथा लोकायतिक (चार्वाक)

---

* जन्म, मरण आदि ।

संविदाकाशमेवैतत् केनचिद् ब्रह्म कथ्यते ।
केनचित् प्रोच्यते ज्ञानं केनचिच्छून्यमुच्यते ॥ ११ ॥

केनचिन्मदशक्त्याभं केनचित् पुरुषाभिधम् ।
केनचिच्च चिदाकाशं शिव आत्मा च केनचित् ॥ १२ ॥

चिन्मात्रमेवमप्युक्तं याति न क्वचिदन्यताम् ।
यस्मात् स्वयं तदेवैवमात्मानं वेत्ति नेतरत् ॥ १३ ॥

आदि जो वादी हैं, वे सबके सब संविदाकाशके सिवाय जो पदार्थ मानते हैं, कहिये वह क्या है ? ॥ १० ॥

ब्रह्मवादीको आगे कर, उसका सर्वप्रथम नाम लेकर उक्त अर्थका विस्तारसे वर्णन करते हैं—'**संविदाकाश०**' इत्यादि दो श्लोकोंसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, इस संविदाकाशको ही कोई ब्रह्म कहते हैं, कोई विज्ञान कहते हैं कोई शून्य कहते हैं ॥ ११ ॥

कोई (१) मदिरा मदके तुल्य † (देहाकारमें परिणत भूतधर्मभूत), कोई (२) पुरुष, कोई (३) चिदाकाश तथा कोई (४) शिव एवं आत्मा कहते हैं ॥ १२ ॥

इस तरह अनेक वादियों द्वारा अनेक प्रकारकी कल्पना करनेपर भी चितिके स्वरूपके विषयमें किसी तरहकी क्षति नहीं होती, क्योंकि यह चिति समस्त विकल्पोंकी साक्षी होनेसे स्वयं निर्विकल्पस्वरूप है, यह कहते हैं—'**चिन्मात्र०**' इत्यादिसे ।

इस तरह इसके स्वरूपके विषयमें नाना तरहकी कल्पना होनेपर भी यह चिन्मात्र स्वरूपवाली चितिशक्ति कहीं अन्यरूपताको प्राप्त नहीं होती, क्योंकि इस तरह अनेक प्रकारसे विकल्पित यह अपने आत्माको स्वयं तद्रूप ही जानती है, अन्यरूप नहीं ॥ १३ ॥

† जैसे अन्नादि विविध वस्तुओंका संमिश्रण ही मदरूपमें परिणत हो जाता है वैसे ही देहाकारमें परिणत पृथिवी आदि महाभूतोंका धर्म ही चेतन है, उससे अतिरिक्त नहीं है, यह चार्वाकोंका मत है ।

(१) देहात्मवादी चार्वाक्, (२) सांख्य, (३) योगी, (४) शैव लोग इसे शिव, ईश्वर, आत्मा, अणु और जीव कहते हैं ।

चूर्णतां यान्तु मेऽङ्गानि सन्तु मेरूपमानि च ।
का क्षतिः का च वा वृद्धिश्चिद्रूपवपुषो मम ॥ १४ ॥

मृताः पितामहाद्याश्चिन्न मृता सा म्रियेत चेत् ।
तज्जन्म नैव नाम स्यादस्माकं मृतसंविदाम् ॥ १५ ॥

न जायते न म्रियते संविदाकाशमव्ययम् ।
भवेत् कथं कथय किं किलाऽऽकाशस्य संक्षयः ॥ १६ ॥

जगद्रूपैककचनमविनाशि चिदम्बरम् ।
उदयास्तमयोन्मुक्तं स्थितमात्मनि केवलम् ॥ १७ ॥

जगद्भानं दधद्दाहं चिन्नभःस्फटिकाचलः ।
अनादिमध्यपर्यन्तः स्वच्छ आत्मनि तिष्ठति ॥ १८ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, मेरे सारे अङ्ग चूर्ण-चूर्ण हो जायँ, या सुमेरु पर्वतके सदृश विशाल हो जायँ, इससे चिन्मात्र शरीरवाले मेरी क्या क्षति हुई और क्या वृद्धि हुई ? ॥ १४ ॥

हम लोगोंके पितामह आदिके शरीर मर गये, किन्तु उनकी चिति तो नहीं मरी । यदि वह भी मर जाती, तो फिर मृत आत्मावाले उनका पुनर्जन्म ही न होता और तुल्यन्यायसे हम लोगोंका भी पुनर्जन्म न हुआ होता ॥ १५ ॥

यह संविदाकाश अक्षय है। न तो यह कभी जन्म लेता है और न कभी मरता ही है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है । हे श्रीरामचन्द्रजी, इस आकाशका नाश क्या होगा अथवा कैसे होगा, यह कहिये ॥ १६ ॥

इस तरह संविद्के नाशका संभव न होनेसे जगद्रूप स्फुरणवाले उदय और अस्तमयसे रहित अविनाशी चिदाकाश अपनी आत्मामें ही स्थित है ॥ १७ ॥

चिदाकाशरूपी स्फटिक-पर्वत अपने अन्दर स्वयं जगत्प्रकाशको धारण करता हुआ स्वतत्त्वसाक्षात्काररूपी अग्निसे उसका दाह करके स्वच्छ आत्मस्वरूपमें अवस्थित रहता है । यह आदि, अन्त तथा मध्यसे शून्य है * ॥ १८ ॥

---

* जैसे स्वच्छ स्फटिक-पर्वत अपने भीतर प्रविष्ट प्रतिबिम्बवनको पहले धारण करता हुआ कदाचित् प्रतिबिम्ब वह्निभावको प्राप्त हुए अपने ही द्वारा उस वनको जलाकर स्वरूपमात्रमें अवस्थित रहता है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये, यह आशय है ।

यथा यथाऽन्धकारेण प्रेक्ष्यमाणं प्रणश्यति ।
किमप्यङ्गाऽभ्रचक्राभं तथेदं विश्वमात्मनि ॥ १९ ॥

यथाऽम्बुधिः स्वयं याति तोयाद्यावर्तकादिकम् ।
स्थितोऽदधत्तथैवेदं चिदाकाशोऽङ्गमात्मनि ॥ २० ॥

चिन्मात्रमेव पुरुषः खवत् स च न नश्यति ।
कदाचनाऽपि तद् व्यर्थं यन्नश्यामीति शोकिता ॥ २१ ॥

देहाद्देहान्तरप्राप्तौ नव एव महोत्सवः ।
मरणात्मनि किं मूढा हर्षस्थाने विषीदथ ॥ २२ ॥

ज्यों-ज्यों ज्ञान प्रबल होता जाता है त्यों-त्यों अज्ञानजनित यह जगत् भी नष्ट होता जाता है, इसमें दृष्टान्त देते हैं—'यथा यथा' इत्यादिसे ।

जैसे अन्धकार द्वारा रातमें बनाया गया कुछ एक तरहका मेघसंघात जगत्का आवरण, जो रात खुलते समय दिखाई देता है, क्रमशः बिलकुल नष्ट हो जाता है यानी ज्यों ज्यों सूर्यका प्रकाश बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ वह कुछ देरके बाद पूर्णरूपसे नष्ट हो जाता है, वैसे ही हे श्रीरामचन्द्रजी, अज्ञानरूपी अन्धकार द्वारा संपादित यह विश्व भी ज्यों-ज्यों ज्ञान बढ़ता जाता है त्यों-त्यों नष्ट होता हुआ ज्ञानका प्राबल्य होनेपर अन्तमें बिलकुल नष्ट होकर स्वरूपमें प्राप्त हो जाता है ॥ १९ ॥

जैसे सागर स्वयं ही अपने स्वरूपभूत जलप्रवाह, तरङ्ग आदिमें आवर्त, फेन, बुद्बुद आदि रूप अङ्ग धारण करता रहता है वैसे ही चिदाकाश भी अपने स्वरूपमें ही जगद्रूपी अङ्ग धारण करता हुआ स्थित है ॥ २० ॥

चिन्मात्र ही पुरुष है, वह आकाशवत् नित्य है, कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए 'मैं नष्ट होता हूँ' इस तरहका जो शोक करना है, वह सर्वथा व्यर्थ है ॥ २१ ॥

जीर्ण शरीरके त्यागसे अत्यन्त नूतन शरीरकी प्राप्तिमें निमित्तभूत मृत्युके उपस्थित होनेपर हर्ष मनाना ही उचित है, शोक करना उचित नहीं है, यह कहते हैं—'देहाद्देहा०' इत्यादिसे ।

जीर्ण शरीरत्यागसे अन्य नूतन शरीरकी प्राप्ति होनेपर तो एक महान् नवीन उत्सव ही मनाना चाहिये । अरे मूढ़ पुरुषो, हर्षरूप मरणके उपस्थित होनेपर तुम लोग विषाद क्यों करते हो ? ॥ २२ ॥

मृतश्चेन्न भवेद्भूयः सोऽत्राऽप्युपचयो महान् ।
भावाभावग्रहोत्सर्गज्वरः प्रशममागतः ॥ २३ ॥
मरणं जीवितं तस्मान्न दुःखं न सुखं यतः ।
नाऽस्त्येवैतच्चिदाकाशः किलेत्थमभिजृम्भते ॥ २४ ॥
मृतस्य देहलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ।
मृतिर्नाशो हि देहस्य सा मृतिः परमं सुखम् ॥ २५ ॥
मृतिरत्यन्तनाशश्चेत्तद्भवामयसंक्षयः ।
भूयः शरीरलाभश्चेन्नव एव तदुत्सवः ॥ २६ ॥

पुनर्जन्म कदापि नहीं होता, यदि यही मत तुम्हारे हृदयमें बैठा हुआ है, तो भी तुम्हें विषाद करना उचित नहीं है, क्योंकि एकमात्र मृत्युसे हो सर्वविध अनर्थोंका निवारण हो जाता है, यह कहते हैं—'मृत०' इत्यादिसे ।

मृत प्राणो पुनः उत्पन्न नहीं होता, यदि यही तुम्हारा निश्चित मत है, तो इसमें भी वह महान् पुरुषार्थोत्कर्ष ही है, क्योंकि उत्पत्ति और नाश तथा ग्रहण और त्याग, इत्यादि सभी ज्वर एकमात्र उस मरणसे ही शान्तिको प्राप्त हो गये ॥ २३ ॥

इस प्रकार जब जन्म और मरणके रहते भी दुःखकी प्राप्ति नहीं है, तो फिर इनकी अभावदशामें भला दुःखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? इस आशयसे उपसंहार करते हैं—'मरणम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, चूँकि जन्म नहीं है और मरण नहीं है, अतः सुख नहीं है, और दुःख भी नहीं है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है; किन्तु एकमात्र चिदाकाश ही इन सबके रूपसे स्फुरित हो रहा है ॥ २४ ॥

मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है या नहीं, यह सन्देह बना रहनेसे मृत्युसे भय माननेवालेके प्रति पूर्वोक्त अर्थको ही पुनः उक्तिवैचित्र्यसे कहते हैं—'मृतस्य' इत्यादिसे ।

यदि मृत प्राणीको पुनः देहका लाभ होता है, तो यह नूतन महोत्सव ही हुआ, क्योंकि बुढ़ापा तथा नानाविध रोगोंसे ग्रस्त कारागृहके सदृश पूर्व शरीरका नाश ही तो मृत्यु है और वह मृत्यु परम सुखमय है ॥ २५ ॥

मृत्युके बाद कुकर्मियोंको नरक आदिके श्रवणसे यदि भय होता है, तो फिर जीवित प्राणियोंको भी, जो चोरी आदि कुत्सित कर्म करनेवाले हैं, राजदण्डका भय बना रहता है तथा 'अत्युत्कट पाप कर्मोंका फल प्राणीको इसी लोकमें जीते जी भोगना

कुकर्मभ्योऽथ भीतिश्चेत्सा समेह परत्र च ।
तानि मा कार्ष भोस्तस्माल्लोकद्वितयसिद्धये ॥ २७ ॥

मरिष्यामि मरिष्यामि मरिष्यामीति भाषसे ।
भविष्यामि भविष्यामि भविष्यामीति नेक्षसे ॥ २८ ॥

क्व नाम जन्ममरणे क्व भवाभवभूमयः ।
संविदात्मकमेवेदं व्योम व्योम्नि विवर्तते ॥ २९ ॥

संविदाकाशमात्रात्मा पिब भुङ्क्ष्वाऽऽस्स्व निर्ममः ।
आकाशकोशकान्तस्य कुत इच्छोदयस्तव ॥ ३० ॥

स्वप्रवाहबलोद्युक्तदेशकालवशादितान् ।
भवान् भुङ्क्तेऽभयो भव्यः पावनान् पावनादपि ॥ ३१ ॥

पड़ता है,' यों पाप कर्मोंके फलश्रवणसे यहाँ भी उन्हें भय होता ही है, इसलिए समान भय होनेसे आप कुकर्म ही न करें, यह कहते हैं—**'कुकर्मभ्यः'** इत्यादिसे ।

कुकर्मोंसे जो भय है, वह तो इस लोकमें तथा परलोकमें भी समान ही है, इसलिए दोनों लोकोंकी उत्तम फल-प्राप्तिके लिए कुकर्म ही नहीं करने चाहिये ॥२७॥

मैं मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, मर जाऊँगा, यही बराबर कहा करते हैं, मरनेके बाद भी मैं चिद्रूपसे सदा स्थित रहूँगा, रहूँगा, रहूँगा, ऐसा विचार नहीं करते ॥२८॥

परमार्थ दृष्टिसे तो जन्म और मरणकी प्राप्ति नहीं है, यह कहते हैं—**'क्व नाम'** इत्यादिसे ।

विचार कर देखिये न, वस्तुतः जन्म और मरण कहाँ हैं, उत्पत्ति और विनाशकी भूमियाँ कहाँ हैं, यह सब मक चिदाकाश ही चिदाकाशमें विवर्तभावको प्राप्त हो रहा है ॥ २९ ॥

ज्ञानपरिपूर्ण महात्माओंका इच्छाशून्य व्यवहार होनेसे उन्हें कदापि दुःख प्राप्त नहीं होता, यह कहते हैं—**'संविदाकाश०'** इत्यादिसे ।

आप एकमात्र संविदाकाशरूप ही हैं, इसलिए ममता छोड़कर आप खूब खाइये, पीजिये । आप सांसारिक सब व्यवहार करते चलिये । आप तो आकाशकोशके सदृश निर्लेप हैं । भला आपमें इच्छाका उदय कहाँसे हो सकता है ? ॥ ३० ॥

अपने प्रवाह-बलसे प्राप्त प्रयत्नसे तथा देश और कालके वशसे प्राप्त हुए मन्वादि विषयोंका, और उनमें भी जो पावनसे भी अत्यन्त पावन हैं, उनका

मध्यमध्यगतान्दोषान्देशकालवशोदितात् ।
अनादृत्याऽन्तरेवाऽऽस्ते सुप्तधोरवहेलयन् ॥ ३२ ॥
न दुःखमेति मरणात् सुखमेति न जीवितात् ।
नाऽभिवाञ्छति न द्वेष्टि स तदास्ते विवासनः ॥ ३३ ॥
मरणजीवितजन्मजरत्तृणा-
न्यविमृशन्विगतेच्छमवासनः ।
विदितवेद्य इहाऽज्ञ इवोदितो
वसति वीतभयस्त्वचलो यथा ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षोपाये निर्वाणप्रकरणे उत्तरार्धे परमोपदेशो नामैकाधिकशततमः सर्गः ॥ १०१ ॥

यानी जो मनको मलिन बनाने तथा उसके विक्षेपमें हेतु नहीं हैं उनका अध्यात्मा पुरुष निर्भय होकर उपभोग करता है ॥ ३१ ॥

बीच बीचमें यानी देशमें जब किसी तरहका उपद्रव आकर खड़ा हो जाता है या दुर्भिक्ष पड़ जाता है तब भी ज्ञानी पुरुषको दुःख नहीं प्राप्त होता, क्योंकि उस समय वह कहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें समाधिसुखका अनुभव करके उस दुःख-ग्रस्त कालकी अवहेलनाकर देता है, यह कहते हैं-- 'मध्यमध्य०' इत्यादिसे ।

बीच-बीचमें आ टपके देशकालके वश उदित हुए नानाप्रकारके दोषोंका अनादर करके उनकी अवहेलना करता हुआ वहीं एकान्त पर्वतकी गुफामें निर्विकल्पक समाधिमें सुप्तबुद्धि पुरुष स्थित रहता है ॥ ३२ ॥

निर्विकल्पक समाधिमें निमग्नबुद्धि पुरुष न तो मृत्युसे दुःखको प्राप्त होता है और न जीवनसे सुखको ही प्राप्त होता है । वह किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं करता और न किसीसे द्वेष ही करता है । वह वासनाशून्य होकर समाधि-स्थित रहता है ॥ ३३ ॥

इस सर्गमें कहीं गई बातोंका संक्षिप्तरूपसे उपसंहार करते हैं—'मरण०' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जीवन-मरण तथा जन्मको जीर्ण तृण समझता हुआ इच्छा-शून्य तथा वासनासे रहित जीवन्मुक्त पुरुष विदितवेद्य होनेपर भी अतिमूढकी तरह भयशून्य हो इस संसारमें ऐसे निवास करता है, जैसे अचल ॥ ३४ ॥

एक सौ एक सर्ग समाप्त

द्व्यधिकशततमः सर्गः

श्रीराम उवाच

परिज्ञाते परे वस्तुन्यनादिनिधनात्मनि ।
संपद्यते वद ब्रह्मन् कीदृशः पुरुषोत्तमः ॥ १ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणु संपद्यते कीदृग्ज्ञातज्ञेयो नरोत्तमः ।
यावज्जीवं कथं चैव किमाचारोऽवतिष्ठते ॥ २ ॥
उपला अपि मित्राणि बन्धवो वनपादपाः ।
वनमध्ये स्थितस्याऽपि स्वजना मृगपोतकाः ॥ ३ ॥

एक सौ दो सर्ग

[तत्त्वज्ञानीकी लक्षणावलिका, जिसके दृढ़ अभ्याससे बोध दृढ़ हो जाय, पुनः वर्णन]

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे ब्रह्मन्, आदि और अन्तसे शून्य परम तत्त्व ब्रह्म वस्तुका भलीभाँति ज्ञान हो जानेपर उत्तम पुरुष किन-किन लक्षणोंसे विशिष्ट (युक्त) हो जाता है, यह कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, ज्ञेय वस्तुका जिसे भलीभाँति परिज्ञान हो चुका है ऐसा जीवन्मुक्त नरोत्तम कैसा होता है और जीवन-पर्यन्त वह किस तरहके स्वभावसे तथा किस आचारसे युक्त होकर अवस्थित रहता है, यह [मैं आपसे कहता हूँ] आप सुनिये ॥ २ ॥

उन लक्षणोंमें स्वभावभूत आभ्यन्तर लक्षणोंको पहले कहनेके लिये उपक्रम करते हैं—**'उपला अपि'** इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, जंगलके बीचमें रहते हुए भी उस जीवन्मुक्त पुरुषश्रेष्ठके पत्थर भी मित्र, वनके वृक्ष भी बन्धु तथा मृगोंके बच्चे ही स्वजन बन जाते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि मित्र तथा पत्थर आदिमें संयोग तथा वियोग होनेपर भी उसकी स्थिति एक-सी बनी रहती है—मित्र आदिके संयोग और वियोगमें उसे हर्ष और दुःख नहीं होता ॥ ३ ॥

आकीर्णं शून्यमेवाऽस्य विपदश्चाऽतिसंपदः ।
स्थितस्याऽपि महाराज्ये व्यसनान्येव सूत्सवाः ॥ ४ ॥
असमाधिः समाधानं दुःखमेव महत्सुखम् ।
व्यवहारोऽपि सन्मौनं कर्माण्येवाऽत्यकर्मता ॥ ५ ॥
जाग्रदेव सुषुप्तस्थो जीवन्नेव मृतोपमः ।
करोति सर्वमाचारं न करोति च किंचन ॥ ६ ॥
रसिकोऽत्यन्तविरसो निर्घृणो बन्धुवत्सलः ।
निर्दयोऽत्यन्तकरुणो वितृष्णस्तृष्णयाऽन्वितः ॥ ७ ॥

महान् राज्यमें स्थित रहनेपर भी उस पुरुषके लिए मनुष्योंसे ठसाठस भरा स्थान भी बिलकुल शून्य है, उस महात्माके लिए आपत्तियाँ भी (धन तथा बन्धु आदिका नाश भी) सम्पत्तिरूप हैं। वध, बन्धन तथा परवशता आदि नाना प्रकारके दुःख ही उसके लिए महान् उत्सवके तुल्य रहते हैं यानी उन दुःखोंको वह जीवन्मुक्त महात्मा महान् उत्सवके समान मानता है ॥ ४ ॥

उसके लिए असमाधि भी समाधि है, दुःखको ही वह महान् सुख समझता है, उसका वाचिक व्यवहार होनेपर भी वह मौन है। यद्यपि उसके सभी कर्म होते ही हैं, फिर भी उसके वे सब कर्म अकर्मता ही है ॥ ५ ॥

वह जाग्रदवस्थामें स्थित रहनेपर भी सुषुप्त सदृश निर्विकल्पात्मामें स्थित रहता है। जीवित रहता हुआ भी अशरीरात्मभावमें स्थिति होनेसे मृत प्राणीके तुल्य है। समस्त आचार भी यह करता है, फिर भी अकर्ता आत्मामें प्रतिष्ठित होनेसे कुछ नहीं करता ॥ ६ ॥

उसकी विषयसुखोंमें एकमात्र आत्मसुखकी दृष्टि रहती है, इसलिए वह रसिक है, किन्तु विषयदृष्टिसे तो वह अत्यन्त विरक्त है। चूँकि किसी व्यक्तिविशेषमें वह स्वीयताबुद्धि नहीं रखता, इसलिए,उसमें करूणा तो है ही नहीं, किन्तु स्वात्मता-बुद्धिसे निरुपाधि प्रेम होनेके कारण वह बन्धुओंमें वत्सल है। दयाविषय द्वितीय वस्तुको वह नहीं देखता, इसलिए दयाशून्य है, लेकिन अपने शरीरकी उपमा द्वारा वह दूसरेके शरीरमें भी सुख–दुःखका अवलोकन करनेसे अत्यन्त करुणासे युक्त है। इसी तरह परिपूर्ण होनेसे वह तृष्णासे शून्य है, किन्तु अज्ञ जनोंका उद्धार करना उसका स्वभाव है, अतः उनके हितकी तृष्णासे अन्वित है ॥ ७ ॥

सर्वाभिनन्दिताचारः सर्वाचारबहिष्कृतः ।
वीतशोकभयायासः सशोक इव लक्ष्यते ॥ ८ ॥

तस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते तु सः ।
परमुद्वेगमापन्नः संसृतौ रसिकोऽपि सन् ॥ ९ ॥

नाऽभिनन्दति संप्राप्तं नाऽप्राप्तमभिवाञ्छति ।
आस्तेऽनुभूयमानेऽर्थे न च हर्षविषादयोः ॥ १० ॥

दुःखिते दुःखितकथः सुखिते सुखसंकथः ।
आस्ते सर्वास्ववस्थासु हृदयेनाऽपराजितः ॥ ११ ॥

कर्मणः सुकृतादन्यदस्मै किंचिन्न रोचते ।
स्वभाव एव महतां ननु यन्न विचेष्टितम् ॥ १२ ॥

'किमाचारोऽवतिष्ठते' इससे पूछे गये बाह्य वर्णन करते हैं—'सर्वाभि०' इत्यादिसे ।

सर्वाभिनन्दित आचारोंसे युक्त होनेपर भी वह समस्त आचारोंसे बहिष्कृत है। शोक, भय तथा आयाससे रहित होनेपर भी वह अज्ञ जनोंका दुःख देखकर उनके लिए शोक करता है, अतः शोकयुक्त-सा दीखता है ॥ ८ ॥

न तो उस जीवन्मुक्त प्राणीसे संसार भयभीत होता है और न वही संसारसे भीत होता है। अन्य जनकी दृष्टिमें संसारमें रसिक (अनुरक्त) होकर भी वह संसारसे परम उद्विग्न यानी वैराग्यको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ९ ॥

वह जीवन्मुक्त पुरुष सम्प्राप्त हुई वस्तुका न तो अभिनन्दन करता है, और न अप्राप्तकी अभिलाषा करता है तथा हर्ष और विषादमें कारणभूत पदार्थके अनुभूत होनेपर भी वह सज्जन हर्ष तथा विषाद नहीं करता ॥ १० ॥

किसी दुःखी प्राणीको देख लेनेपर उसके साथ बैठकर उससे दुःखित प्राणीकी कथा तथा किसी सुखसम्पन्न पुरुषके मिल जानेपर उससे सुखकी कथा कहता जाता वह विवेकी महात्मा हृदयसे सम्पूर्ण अवस्थाओंमें सुख एवं दुःखसे अभिभूत न हो सदा एक-सा स्थित रहता है ॥ ११ ॥

सुकृत कर्मसे अन्य उसे कुछ भी अच्छा नहीं लगता है। हे श्रीरामचन्द्रजी, अशास्त्रीय चेष्टासे जो शून्य होना है वह उन महात्माओंका स्वभाव ही है अर्थात् महात्माका यह स्वभाव ही है कि वे लोग शास्त्रवर्जित चेष्टा कभी नहीं करते ॥ १२ ॥

नाऽऽलम्बते रसिकतां न च नीरसतां क्वचित् ।
नाऽर्थेषु विचरत्यर्थी वीतरागः सरागवत् ॥ १३ ॥
यथाशास्त्रव्यवहृतेः सुखदुःखैः क्रमागतैः ।
अनागतोऽपि चाऽऽयाति न हर्षं न विषादिताम् ॥१४॥
संप्रहृष्टाश्च लक्ष्यन्ते लक्ष्यन्ते दुःखितास्तथा ।
न स्वभावं त्यजन्त्यन्तः संसाराऽऽरभटीनटाः ॥ १५ ॥
आत्मीयेष्वर्थजातेषु मिथ्यात्मसु सुतादिषु ।
बुद्बुदेष्विव तोयानां न स्नेहस्तत्त्वदर्शिनाम् ॥ १६ ॥
अस्नेह एव सुघनस्नेहार्द्रहृदयो यथा ।
वत्सलां दर्शयन् वृत्तिं ज्ञस्तिष्ठति यथाक्रमम् ॥ १७ ॥

वह जीवन्मुक्त महात्मा न तो किसीमें आसक्तिका अवलम्बन करता है और न कहीं विरक्तिका ही अवलम्बन करता है। वह धनोंके लिए अर्थी यानी याचक होकर इधर-उधर नहीं भटकता फिरता। वह वीतराग होकर भी रागयुक्त-सा मालूम पड़ता है ॥ १३ ॥

शास्त्रानुकूल व्यवहारसे क्रमशः प्राप्त हुए सुख-दुःखोंसे संस्पृष्ट न होनेपर भी उनका स्पर्श-सा करता है तथा उनसे वह हर्ष या विषादिताको कभी प्राप्त नहीं होता है ॥ १४ ॥

सुख और दुःखसे वह एक तरहसे स्पृष्ट-सा होता है, यह जो ऊपर कहा है, उसका हेतुके प्रदर्शन द्वारा विवरण करते हैं—'संप्रहृष्टाश्च' इत्यादिसे।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे महात्मा लोग सुख-दुखके कारणोंसे प्रसन्नचित्त तथा दुःखित अवश्य भासते हैं, परन्तु अपने निरतिशयानन्दप्रतिष्ठासे उत्पन्न धैर्यपूर्ण स्वभावका वे कभी परित्याग नहीं करते, क्योंकि वे लोग संसाररूपी नाट्यशालाके नट हैं ॥ १५ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, तत्त्वदर्शी महात्माओंको मिथ्याभूत पुत्र आदि अलीक पदार्थसमूहोंसे ऐसे ही स्नेह नहीं होता, जैसे कि जलोंके बुद्बुदोंमें ॥ १६ ॥

स्नेहरहित होनेपर भी तत्त्वज्ञानी पुरुष सुघन स्नेहसे आर्द्र हृदयवालेके समान यथायोग्य अपनी वत्सलता दर्शाता हुआ स्थित रहता है ॥ १७ ॥

परन्तु अज्ञानी लोग तत्त्वज्ञानियोंकी तरह अनासक्तिपूर्वक विषयोंका भोग करना नहीं जानते, यह कहते हैं—'वायूनिव' इत्यादिसे

वायूनिव प्रवाहस्थाः स्पृशन्ति विषयान् मुधा ।
देहसत्ताविषान्मूढा लीयन्ते विषयोदरे ॥ १८ ॥

बहिः सर्वसमाचारमन्तः सर्वार्थशीतलम् ।
नित्यमन्तरनाविष्ट आविष्ट इति तिष्ठति ॥ १९ ॥

श्रीराम उवाच

स्वरूपमीदृशं तस्य को वेत्ति मुनिनायक ।
वद सत्यमसत्यं वा भवत्यज्ञो ह्यपीदृशः ॥ २० ॥

अश्ववद् ब्रह्मचर्येण चरन्तोऽचारुचेतसः ।
मिथ्या तपस्विदार्ढ्याय भवन्त्येवंविधा मुने ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, लेकिन अज्ञानी लोग तो देहात्मसत्तारूपी विषसे मूर्छितसे होकर कामादि-सन्तापकी शान्तिके लिए अत्यधिक आसक्तिके कारण विषयोंके उदरमें लीन होते हैं तथा विषयोंके उदरमें लीन होते हुए भी वे उन विषयोंका कुछ थोड़ा-सा ऐसे ही स्पर्श कर पाते हैं, जैसे कि प्रतप्त वैतरणी नदीके प्रवाहमें पड़े नरकीय पुरुष ऊपर भागसे कुछ थोड़ा-सा व्यर्थ वायुओंका स्पर्श कर पाते हैं। तत्त्वतः विषयका अनुभव करके वे विश्रान्तिको नहीं प्राप्त कर सकते, यह अभिप्राय है ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष बाहरसे समस्त शिष्टोंके आचारोंको करता हुआ भी भीतर समस्त अर्थोंसे शीतल बना रहता है। वह सदा भीतर सबसे अनाविष्ट पृथक् होकर भी आविष्ट-सा स्थित रहता है ॥ १९ ॥

उक्त लक्षणोंसे तत्त्वज्ञानीका परिचय होना बड़ा कठिन है। क्योंकि मूर्ख, दाम्भिक, वञ्चक, तपस्वीमें भी बलात् सम्पादित हुए इन लक्षणोंका दर्शन हो सकता है, यों श्रीरामचन्द्रजी आशङ्का करते हैं—'स्वरूप०' इत्यादिसे।

श्रीरामचन्द्रजीने कहा—हे मुनिनायक, तत्त्वज्ञानीका ऐसा स्वरूप सत्य है या असत्य इसको कौन जान सकता है। यह कहिये, क्योंकि आपके द्वारा कहे गये लक्षणोंसे युक्त दाम्भिक अज्ञानी पुरुष भी इस लोकमें देख पड़ता है ॥ २० ॥

हे मुने, अश्वकी तरह ब्रह्मचर्यव्रतका परिपालन करते हुए कलुषित चित्तवाले अज्ञानी दाम्भिक पुरुष भी ज्ञानी महानुभावोंकी नकलकर झूठमूठमें अपनी दृढ़ तपस्विता दिखलानेके लिए यानी मिथ्या परिकल्पित अपनी तपस्याकी दृढ़ प्रख्याति

वसिष्ठ उवाच

असत्यं वाऽस्तु सत्यं वा स्वरूपं वरमीदृशम् ।
विद्धि वेदविदां त्वेष स्वभावानुभवस्थितः ॥ २२ ॥
अनाविष्टा विचेष्टन्ते वीतरागाः सरागवद् ।
गतहासा हसन्त्यज्ञान् सहसा करुणाकुलाः ॥ २३ ॥
चित्तादर्शगतं दृश्यं सर्वं कपटकुट्टिमम् ।
पश्यन्त्यसत्परिज्ञातं स्वप्ने हेमेव हस्तगम् ॥ २४ ॥
अन्तःशीतलतामेषां तां न जानन्ति केचन ।
दूराच्चन्दनदारूणामामोदमिव जन्तवः ॥ २५ ॥

करनेके लिए अर्थात् मुझे संसार बहुत बड़ा तपस्वी समझे, इस आशयसे ऐसे होते हैं ॥ २१ ॥

अपनेको तपस्वी बतलानेके लिए दृढ़ किए गये इन लक्षणोंका फल शुभ ही होता है, इसलिए उन लक्षणोंसे युक्त पुरुषोंकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वैसे पुरुषोंका अनुसरण करनेपर स्वभावसिद्ध लक्षणसम्पन्न तत्त्वज्ञानी भी अचानक कहीं लब्ध हो जाता है, इस आशयसे श्रीवसिष्ठजी उत्तर देते हैं—'असत्यं वा'० इत्यादिसे।

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, चाहे असत्य हो चाहे सत्य, किन्तु ऐसा स्वरूप हर हालतमें अच्छा ही है यानी दुर्लभ होनेसे उक्त लक्षणोंसे सम्पन्न स्वरूप श्रेष्ठ ही है। कहनेका तात्पर्य यह है कि उन लक्षणोंसे सम्पन्न पुरुषकी उपेक्षा अनुचित है, चाहे भले ही वह दाम्भिक क्यों न हो। और जो वेदार्थतत्त्ववित् पुरुष हैं उनमें तो ये लक्षण स्वभावानुभव बलसे ही प्रतिष्ठित होते हैं। हठात् सम्पादित नहीं होते ॥ २२ ॥

वीतराग तथा क्रियाके फलोंमें आसक्तिशून्य भी वे जीवन्मुक्त पुरुष रागीके समान चेष्टा करते हैं, अत्यन्त दयामय वे हास रहित होते हुए भी हाससे युक्त होकर अज्ञानियोंके ऊपर हँसते हैं ॥ २३

वे लोग समस्त दृश्यको चित्तरूपी दर्पणमें प्रतिबिम्बित कपट भूमिके तुल्य ऐसे ही असत् देखते हैं जैसे कि स्वप्नमें परिज्ञात हस्तगत सुवर्णको असद्रूप देखते हैं ॥ २४ ॥

जैसे चन्दनकी लकड़ीकी सुगन्धको कृमि, कीट आदि जन्तु दूरसे नहीं जान

ये तु विज्ञातविज्ञेयास्तादृशाः पावनाशयाः ।
जानन्ति तांस्तथैवाऽन्तरहेः पादानिवाऽहयः ॥ २६ ॥
भावं निगूहयन्त्येते तमुत्तममनुत्तमाः ।
ग्राम्यैर्धनैः किलाऽनर्घ्यः कश्चिन्तामणिरापणे ॥ २७ ॥
तस्मिन्निगूहने भावो यतस्तेषां न दर्शने ।
निर्वासना गतद्वैता गतमानाः किलाऽङ्ग ते ॥ २८ ॥

पाते, वैसे ही इनकी उस अन्तःकरणकी शीतलताको कोई नहीं जान पाते ॥ २५ ॥

यद्यपि तत्त्वज्ञानीके स्वरूपको अज्ञानी नहीं जान सकते तथापि तत्त्वज्ञानी तो अवश्य ही जानते हैं, यह कहते हैं—'ये तु' इत्यादिसे ।

जो विज्ञेय पदार्थका भलीभाँति ज्ञान कर चुके हों और उन्हींके समान पवित्र अन्तःकरणवाले ज्ञानी महानुभाव हैं, वे तो अपने अन्तःकरणमें उन्हें ठीक उसी तरहसे ऐसे जानते हैं, जैसे कि साँपोंके पैरोंको साँप जानते हैं ॥ २६ ॥

दाम्भिक लोग सर्वत्र अपनेमें तत्त्वज्ञके लक्षणोंका प्रचार करते फिरते हैं, परन्तु जो सचमुच तत्त्वज्ञानो हैं, वे लोग अपने स्वरूपको छिपाये फिरते हैं; उन्हें इसकी चाट नहीं होती कि हमें सब लोग ज्ञानी समझें । हे श्रीरामजी, इसी विशेषता-से वे पहिचाने जा सकते हैं, इस आशयसे कहते हैं—'भावम्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी, वे सर्वोत्तम ज्ञानी महानुभाव अपने उस उत्तम भावको छिपाये-फिरते हैं, क्योंकि गाँवों तथा नगर आदिके धनोंसे जो खरीदी नहीं जा सकती, ऐसी चिन्तामणिको भला बाजारमें बेचनेके लिए कौन फैलायेगा ॥ २७ ॥

जैसे बेचनेके लिए बाजारमें फैलाई गई चिन्तामणिको कोई भी नहीं कह सकता कि यह असली चिन्तामणि है वैसे ही जबर्दस्ती अपने गुणका प्रचार करने करानेवालोंको सभी लोग जान जाते हैं कि यह दाम्भिक है—संसारको धोखा देता है । वस्तुतः यह तत्त्वज्ञानी नहीं है, इस आशयसे कहते हैं—'तस्मिन्' इत्यादिसे ।

हे श्रीरामचन्द्रजी. उन तत्त्वज्ञानी महानुभावोंका अपने गुणोंको छिपा रखनेमें ही तात्पर्य रहता है । दूसरों द्वारा अपनी सर्वत्र ख्याति करानेमें नहीं, क्योंकि वे लोग वासनासे शून्य, द्वैतरहित एवं अभिमानसे रहित होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥ २८ ॥

एकान्तामानदौर्गत्यजनावज्ञास्तयस्तु तान् ।
सुखयन्ति यथा राम न तथैव महर्द्धयः ॥ २९ ॥
स्वसंवेदनसंवेद्यसारा विदितवेद्यता ।
नैषा दर्शयितुं शक्या दृश्यते न च तद्विदा ॥ ३० ॥
गुणं ममेमं जानातु जनः पूजां करोतु मे ।
इत्यहंकारिणामीहा न तु तन्मुक्तचेतसाम् ॥ ३१ ॥
क्रियाफलानि चिद्व्योमगमनादीनि राघव ।
अज्ञानामपि सिध्यन्ति मन्त्रौषधिवशादिह ॥ ३२ ॥
यो यादृक् क्लेशमाधातुं समर्थस्तादृगेव सः ।
अवश्यं फलमाप्नोति प्रबुद्धोऽस्त्वज्ञ एव वा ॥ ३३ ॥
आमोदश्चन्दनस्येव स्पन्दनस्य फलं हृदि ।
सर्वस्यैवाऽस्ति तन्नूनं तद्वता समवाप्यते ॥ ३४ ॥

हे श्रीरामचन्द्रजी, उन महात्माओंको एकान्त सेवन, सत्कार एवं पूजन आदिका अभाव, दरिद्रता तथा मनुष्यों द्वारा अपमान—ये सब जैसे सुखी बनाते हैं वैसे बड़ी-बड़ी ऋद्धि-सिद्धियाँ सुखी नहीं बनातीं, क्योंकि सम्मान तथा धन आदिकी समृद्धि होनेपर जनसमाजके द्वारा प्राप्त हजारों प्रतिष्ठा आदिसे तत्त्वज्ञानीके आत्मसुखानुभवमें विच्छेद पड़ने लगता है ॥ २९ ॥

विदितवेद्यताका (तत्त्वज्ञताका) जो सार (निरतिशय आनन्दरूप सार) है, वह एकमात्र स्वानुभवसे ही ज्ञेय है। वह किसी दूसरेको दिखलाया नहीं जा सकता, क्योंकि उस आदमीको भी वह नहीं दिखाई देता जो उसके स्वरूपको जानता है, किन्तु स्वप्रकाशरूपसे वह अनुभूत होता है ॥ ३० ॥

मेरे इस गुणको संसार जाने और मेरी पूजा करे, यह अभिलाषा अहंकारियों-को होती है, जीवन्मुक्त विवेकियोंको नहीं होती ॥ ३१ ॥

हे राघव, इस संसारमें आकाशगमन आदि जो क्रियाफल हैं, वे सब मन्त्र, ओषधिके वशसे अज्ञानियोंको भी अक्सर प्राप्त हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

जो जैसा क्लेश सहन करनेमें समर्थ है, वैसा ही वह अवश्य फल प्राप्त करता है। चाहे वह प्रबुद्ध हो या अज्ञानी हो ॥ ३३ ॥

चन्दनके आमोदकी तरह विहित और निषिद्ध कर्मोंका फल सभी जन्तुओंके अपने हृदयमें ही अपूर्वरूपसे विद्यमान है। समय पाकर आविर्भूत हुए उसे अवश्य

अहन्तावासनाद्वैतं वस्तुता दृश्यवस्तुषु ।
यस्याऽस्त्यसौ साधयति खगमादिक्रियाफलम् ॥ ३५ ॥

इदं न किञ्चिद्भ्रान्तिर्वा खं चेति ज्ञस्तु वेत्ति यः ।
सोऽवासनः कर्मवात्याः कथं साधयति क्रियाः ॥ ३६ ॥

नैव तस्य कृतेनाऽर्थो नाऽकृतेनेह कश्चन ।
न चाऽस्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ॥ ३७ ॥

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा क्वचित् ।
यदुदारमनोवृत्तेर्लोभाय विदितात्मनः ॥ ३८ ॥

जगदेव तृणं यस्य न किंचिद्रज एव वा ।
किं नाम तस्य भवतु अन्यदादेयतां गतम् ॥ ३९ ॥

तद्वान् जन्तु प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

सिद्धिरूप दृश्य वस्तुओंमें 'मैं भोक्ता होऊँ' इस प्रकार अहन्ता वासनादिरूप परिच्छिन्न आत्मकल्पना जिसके भीतर विद्यमान है, वह आकाशगमन आदि क्रिया-फलको सिद्ध कर लेता है ॥ ३५ ॥

जो ज्ञानी यह सब आकाशगमन आदि सिद्धिसमूह तुच्छ है और मनोभ्रममात्र है अथवा अधिष्ठान चिदाकाशमात्र है यह जानता है, वह वासनाशून्य तत्त्वज्ञ पुरुष कर्मरूपी आँधीसे भ्रमणप्राय आकाश-गमन आदि सिद्धि-फलवाली मन्त्रौषधादि क्रियाओंकी क्यों सिद्धि करने जायगा ॥ ३६ ॥

तत्त्वज्ञानीका इस संसारमें न तो कर्मसे ही कोई प्रयोजन है और न कर्माभावसे कोई प्रत्यवायप्राप्तिरूप अनर्थ है तथा ब्रह्मासे लेकर स्थावरपर्यन्त सम्पूर्ण भूतोंमें इस विवेकीका, किसी आत्मप्रयोजनको अपेक्षा करके, आश्रयणीय कोई भी नहीं है ॥ ३७ ॥

पृथिवीपर, स्वर्गमें देवताओंमें, अन्तरिक्ष या कहींपर भी ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो उदारचेता तत्त्वज्ञानीके लोभके लिए हो यानी उसे लुभा सके ॥ ३८ ॥

जिसके लिए सारा संसार तृणके बराबर है, जिसमें रजोगुणका लेश भी नहीं है, उस धीर तत्त्वज्ञानी महात्माके लिए आत्मासे अन्य यानी अनात्मभूत क्योंकर उपादेय होगा ? ॥ ३९ ॥

निर्वाहितजगद्यात्रः परिपूर्णमना मुनिः ।
यथास्थितमसावास्ते संप्रयाति यथागतम् ॥ ४० ॥
नित्यान्तःशीतलो मौनी सत्त्वीभूतमनोवनिः ।
परिपूर्णार्णवाकारो गम्भीरप्रकटाशयः ॥ ४१ ॥
रसायनपरापूर्णह्रदवत् ह्लादमात्मनि ।
धत्ते करोति वाऽन्यस्य सकलेन्दुरिवाऽमलः ॥ ४२ ॥
मन्दारमञ्जरीकुञ्जपिञ्जरा देवभूमयः ।
न तथा ह्लादयन्त्येता यथा पण्डितबुद्धयः ॥ ४३ ॥
चन्द्रबिम्बैर्वसन्तैश्च महतामहताशयैः ।
सारं सौभाग्यसौगन्ध्यसौरमालोकभोगिषु ॥ ४४ ॥

लोकसंग्रहके लिए जगत्के व्यवहारोंका पूर्णरूपसे निर्वाह करनेवाले परिपूर्णमना मननशील, जीवन्मुक्त पुरुष स्वस्वरूपमें ज्योंका त्यों स्थिर होकर यथाप्राप्त शिष्टाचारका अनुसरण करता है ॥ ४० ॥

अन्तःकरणमें शीतल, मौनी, सत्त्वगुणमय मनवाला ज्ञानी पुरुष सर्वदा परिपूर्ण सागरके समान गम्भीर एवं प्रकट आशयवाला रहता है ॥ ४१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष अमृतसे भरे सरोवरके समान अपने आत्मामें स्वयं आनन्दकी हिलोरें लेता रहता है तथा निर्मल परिपूर्ण चन्द्रमाके समान दूसरेको भी आनन्द प्रदान करता रहता है ॥ ४२ ॥

वह अन्यको आनन्दप्रदान करता है, इसका स्पष्टरूपसे वर्णन करते हैं—'मन्दार' इत्यादिसे ।

मन्दारकी मञ्जरीके कुञ्जोंसे पिञ्जर देवताओंके नन्दनवनकी भूमि मनुष्यको वैसा आनन्द नहीं दे सकती, जैसा कि आह्लाद उपदेश आदि द्वारा पण्डितोंकी बुद्धियाँ देती हैं ॥ ४३ ॥

सारग्राही विवेकी पुरुष ग्रीष्म ऋतु सम्बन्धी आलोकभोगियोंमें चन्द्रबिम्बोंसे, सौगन्ध्यभोगियोंमें वसन्तसे तथा सौभाग्यभोगियोंमें तत्त्ववेत्ताओंके रागादिसे अनुपहत आशयोंसे सार ग्रहण करता है ॥ ४४ ॥

तत्त्वज्ञानियोंके आशयोंसे किस सारका ग्रहण करता है, यदि कोई यह पूछे, तो इसका उत्तर यह है कि वह सबसे पहले जगत्को मिथ्या देखता है उसके बाद

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वमिन्द्रजालमसन्मयम् ।
त्यजतीति विनिश्चित्य दिनानुदिनमेषणाः ॥ ४५ ॥
शीतातपादिदुःखानि निजदेहगतान्यपि ।
अन्यदेहगतानीव ज्ञः पश्यत्यवहेलया ॥ ४६ ॥
करुणोदारया वृत्त्या वृत्त्या व्रततिधीरया ।
नीरसो नीरसारां तु सारतां सरति स्थितिम् ॥ ४७ ॥
व्यवहारं यथाप्राप्तं लोकसामान्यमाचरन् ।
चराचराणां भूतानामुपर्येवाऽवतिष्ठते ॥ ४८ ॥

क्रमशः समस्त अपनी इच्छाओंका त्यागकर देता है, यह कहते हैं—'भ्रान्ति-मात्रम्' इत्यादिसे ।

सर्वप्रथम वह सारग्राही महात्मा यह सारा विश्व इन्द्रजालके समान असन्मय एकमात्र भ्रान्तिरूप ही है, इस प्रकारका निश्चय करके दिन-प्रति-दिन अपनी इच्छाओंका त्याग करता जाता है ॥ ४५ ॥

तत्पश्चात् शीतोष्णादि द्वन्द्वकी सहिष्णुतारूप यानी सर्दी-गर्मीका जो सहन करना है, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—'शीता०' इत्यादिसे ।

अपने शरीरमें प्राप्त भी शीत, आतप आदि दुःखोंको ज्ञानी पुरुष अन्य देहस्थके समान अनादरसे देखता है ॥ ४६ ॥

तदनन्तर समस्त भूतोंके ऊपर अनुकम्पास्वरूप दृढ़ अवलम्बन, यथा-प्राप्त जलमात्रसे भी सन्तोष कर लेना इत्यादि जो गुण हैं, तद्रूप सारको ग्रहण करता है, यह कहते हैं—'करुणोदारया' इत्यादिसे ।

एकमात्र दूसरेके उपयोगके लिए पुष्प-फल आदि धारण करनेवाली लताके सदृश, करुणाके कारण उदार वृत्तिसे अन्य दुःखी प्राणीका परिपालन करता है तथा स्वयं विरक्त होकर वह, जो मिल जाय उससे सन्तोष कर लेना इस तरहकी उत्तम-वृत्तिसे जिसमें सन्तोषका हेतु एकमात्र जल ही रहता है, वैसी वृत्तिसे स्थितिरूप सारताको प्राप्त करता है ॥ ४७ ॥

यथाप्राप्त लोकसामान्य व्यवहारका सम्पादन करता हुआ वह जीवन्मुक्त विवेकी पुरुष समस्त चराचर प्राणियोंके ऊपर (उत्कर्षमें अथवा ऊर्ध्वमूलभूत ब्रह्ममें) अवस्थित रहता है ॥ ४८ ॥

ज्ञानीकी ऊपर स्थिति कैसे रहती है, यह दिखलाते हैं—'प्रज्ञाप्रासाद०' इत्यादिसे ।

प्रज्ञाप्रासादमारूढस्त्वशोच्यः शोचते जनान् ।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥ ४९ ॥
चिरं कल्लोलवलितः सुमना जलधौ भ्रमे ।
परं पारमुपागत्य परां विश्रान्तिमेति सः ॥ ५० ॥
हसन् स शान्तया वृत्त्या प्राक्तनीर्जागतीर्गतीः ।
स्मयमान इवाऽऽस्तेऽन्तर्जनताश्च घनभ्रमाः ॥ ५१ ॥
एताः कान्तारनिर्मग्नमिताः संसारदृष्टयः ।
असत्यो हतवत्यो मामित्यन्तर्याति विस्मयम् ॥ ५२ ॥
दृष्ट्याऽष्टगुणमैश्वर्यमनिष्टं मे तृणायते ।
इत्युपैत्युपशान्तत्वात्स्मयमानोऽपि न स्मयम् ॥ ५३ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष प्रज्ञारूपी प्रासादके ऊपर आरूढ़ होकर स्वयं अशोच्य हो अज्ञानियोंके विषयमें शोक करता है। वह सबको ऐसे देखता है, जैसे पर्वतपर खड़े मनुष्य भूमिपर स्थित जनोंको देखते हैं ॥ ४९ ॥

उसी समय वह चिरकालसे पीछे पड़े रागादि विक्षेपरूप दुःखोंसे मुक्त होकर परम विश्रान्ति प्राप्त कर लेता है, यह कहते हैं—'चिरम्' इत्यादिसे।

भ्रमरूपी सागरमें राग, द्वेष आदि लहरोंसे चिरकाल तक विक्षिप्त (लथेड़ा गया) वह निर्मल मनवाला पुरुष ज्ञान द्वारा पर पारको प्राप्त होकर परम विश्रान्तिको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

प्राक्तन संसारकी गतियोंको अतिशान्त वृत्तिसे हँसता हुआ तथा गाढ़ भ्रमसे परिपूर्ण यानी महान् अज्ञानसे भरे जनसमूहोंके प्रति अपने अन्तःकरणमें मुस्काता हुआ-सा स्थित रहता है ॥ ५१ ॥

ये असद्रूप सांसारिक दृष्टियां, जो जंगलमें रास्ता न मिलनेसे अन्धा बनकर इधर उधर भटक रहे अन्धपुरुषसे उपमित हैं, मुझे मोहित करती थीं, ऐसा विचार कर वह ज्ञानी पुरुष भीतर विस्मयको प्राप्त होता है ॥ ५२ ॥

यह मेरा परम सौभाग्य है कि अष्टविध परिपूर्ण ऐश्वर्य मुझे अनिष्ट तथा तृणके समान अवभासित हो रहे हैं, ऐसा समझकर कुछ हँसता हुआ भी गर्व उपशान्त होनेसे गर्व नहीं करता है ॥ ५३ ॥

ज्ञानीके स्थानादिका नियम नहीं है, यह कहते हैं—'कश्चित्' इत्यादिसे।

कश्चिद्गिरिगुहागेहः कश्चित्पुण्याश्रमाश्रयः ।
कश्चिद् गृहस्थाश्रमवान् कश्चिद्बहु रटन् स्थितः ॥ ५४ ॥
कश्चिद्भिक्षाचराचारः कश्चिदेकान्ततापसः ।
कश्चिन्मौनव्रतधरः कश्चिद्ध्यानपरायणः ॥ ५५ ॥
कश्चिद्विपश्चिद्विख्यातः कश्चिच्छ्रोता श्रुतेः स्मृतेः ।
कश्चिद्राजा द्विजः कश्चित्कश्चिदज्ञ इव स्थितः ॥ ५६ ॥
गुटिकाञ्जनखड्गादिसिद्धः कश्चिन्नभोगतः ।
कश्चिच्छिल्पकलाजीवी कश्चित्पामररूपभृत् ॥ ५७ ॥
कश्चित्त्यक्तसमाचारः कश्चिच्छ्रोत्रियनायकः ।
कश्चिदुन्मत्तचरितः प्रव्रज्यां कश्चिदाश्रितः ॥ ५८ ॥

कोई ज्ञानी पुरुष पर्वतोंकी गुफाको अपना घर बनाकर उसमें रहता है, कोई पवित्र आश्रममें रहता है, कोई गृहस्थ आश्रममें ही रहता है और कोई ज्ञानी तो सदा इधर-उधर घूमता रहता है। ज्ञानी पुरुषका कोई एक नियत स्थान नहीं रहता ॥ ५४ ॥

कोई भिखमंगोंके आचरणसे युक्त हो पर्यटन करता है, तो कोई एकान्तमें तपस्वी बनकर रहता है, तो कोई मौनव्रतधारी होकर रहता है और कोई महात्मा तो ब्रह्मध्यानमें ही परायण रहता है ॥ ५५ ॥

कोई विख्यात पण्डित होता है, तो कोई श्रुति-स्मृतिका श्रोता भी दीखता है। कोई राजा, तो कोई ब्राह्मण तथा कोई अज्ञानीके समान स्थित रहता है ॥ ५६ ॥

कोई गुटिका, अञ्जन या खड्ग आदिसे सिद्ध होकर आकाशगामी बना रहता है तो कोई शिल्प कलासे अपनी जीविकाका सम्पादन करता है और कोई पामरके समान रूप धारणकर स्थित रहता है ॥ ५७ ॥

कोई समस्त आचारोंसे शून्य होता है, तो कोई आचार-अनुष्ठानमें श्रोत्रियोंका नायक होता है, कोई उन्मत्त पुरुषके तुल्य चरित्रवाला होता है और कोई संन्यास-धर्म धारण कर स्थित रहता है ॥ ५८ ॥

श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नवाक्यमें 'कीदृशः पुरुषोत्तमः' इस पदको सुनकर उसके अर्थकी जिज्ञासाकी संभावना करते हुए श्रीवसिष्ठजी पुरुषवर्णनपूर्वक उसमें उत्तमता दिखलाते हैं—'पुरुषो न' इत्यादिसे ।

पुरुषो न शरीरादि न च चित्तादि किञ्चन ।
पुरुषश्चेतनं नाम न स नश्यति कर्हिचित् ॥ ५९ ॥
अच्छेद्योऽसावदाह्योऽसावक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽसौ सनातनः ॥ ६० ॥
इति सम्यक्प्रबुद्धो यः स यथा यत्र तिष्ठति ।
तथा तिष्ठतु तत्राङ्ग स्थानस्थानियमेन किम् ॥ ६१ ॥
पातालमाविशतु यातु नभो विलङ्घ्य
दिङ्मण्डलं भ्रमतु पेषणमेव येन
चिन्मात्रमेतदजरं न तु यातु नाश-
माकाशकोश इव शान्तमजं शिवं तत् ॥ ६२ ॥
इत्यार्षे श्रीवासिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये मोक्षो० निर्वाण-
प्रकरणे उत्तरार्धे मरणाद्यभावोपदेशो नाम
द्व्युत्तरशततमः सर्गः ॥ १०२ ॥

पुरुष शरीर आदि और चित्त आदि कुछ नहीं है, किन्तु वह एकमात्र चेतन ही है। वह कभी भी नष्ट नहीं होता * ॥ ५९ ॥

यह चेतन पुरुष किसीसे छेदा नहीं जा सकता, कोई इसे जला नहीं सकता, कोई इसे जलसे भिगा नहीं सकता और कोई इसे सुखा भी नहीं सकता है; यह तो नित्य, सर्वगत, स्थाणु, अचल तथा सनातन है † ॥ ६० ॥

ऐसे पुरुषोत्तमके तत्त्वपरिज्ञानसे वह स्वयं भी तत्त्वज्ञानी पुरुष पुरुषोत्तम है, न कि वर्णाश्रम-मर्यादाका परिपालन करनेसे, क्योंकि वर्णाश्रम मर्यादाका पालन न करनेपर भी उसकी पुरुषोत्तमतामें किसी प्रकारकी हानि नहीं होती, इस आशयसे कहते हैं—'इति सम्यक्' इत्यादिसे ।

इस प्रकार अच्छी तरह जो प्रबुद्ध हो गया वह जहां जैसे रहना चाहे वैसे ही यहां या वहां जहाँ कहींपर स्थित रहे, उसको वर्णाश्रमधर्मको मर्यादाके परिपालनमें आस्था रखनेसे या किसी तरहके नियमसे कोई मतलब नहीं है ॥ ६१ ॥

तत्त्वज्ञानी पुरुष जबर्दस्ती स्वयं नष्ट हो जानेकी इच्छासे पातालमें प्रवेश कर

---

* वह कभी भी नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अविनाशी है, अतः वही उत्तम है।

† छेदन, भेदन आदि विनाशके कारणोंका संस्पर्श न रहनेसे भी वही उत्तम है।

त्र्यधिकशततमः सर्गः

वसिष्ठ उवाच

भामात्रं भानमात्रं वा शान्तं भासत एव च ।
चिन्मात्रं यदनाद्यन्तं तस्य नाशः कथं कदा ॥ १ ॥

जाय, आकाशको लाँघकर उसके ऊपर चला जाय, दिग्मण्डलमें भ्रमण करे, जिससे कि मानसोत्तर लोकालोकादि पर्वतोंसे वह चूर्ण-चूर्ण हो जाय। परन्तु इसका जो चिन्मात्रस्वरूप है, वह अजर ही बना रहता है, कदापि उसका नाश नहीं होता, क्योंकि वह तो आकाशकोशके सदृश सर्वदा शान्त, अज और शिवरूप ही है— उपप्लव रहित नित्य निरतिशयानन्दरूप ही है ॥ ६२ ॥

एक सौ दो सर्ग समाप्त

एक सौ तीन सर्ग

[चितिकी नित्यता, एकता तथा स्वातन्त्र्य का साधन तथा इस सत्-शास्त्रकी महिमा और हितोंपदेशका वर्णन]

सबसे पहले चितिसामान्यकी अविनाशिताका सबके अनुभवबलसे साधन करते हैं—'भामात्रम्' इत्यांदिसे

श्रीवसिष्ठजीने कहा—हे श्रीरामचन्द्रजी, जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें अन्तःकरणके साक्षीरूपसे तथा सुषुप्ति-दशामें अज्ञान, स्वप्नादिके साक्षीरूपसे प्रत्यगात्म प्रकाशमात्र अथवा विषय-प्रकाशमात्र सबको भासता है, इसलिए प्रत्यक्ष प्रमाणसे और व्यवहारसे तथा स्मृति प्रमाणोंसे जो आदि एवं अन्तसे रहित, शान्त, चिन्मात्र है, वह तो सिद्ध ही है। उसका भला नाश किस कारणसे होगा ? यदि कहो, उससे असाधित कारणसे उसका नाश होगा सो उससे असाधित कारण ही प्रसिद्ध नहीं है और उसके द्वारा जो साधित है उसका तो वह उपजीवक है, इसलिए वह उसके नाशका हेतु कैसे हो सकता है ? अतः उसका कभी भी नाश नहीं हो सकता। यदि आप कालको उसके नाशका निमित्त बतावें, तो काल भी उसके नाशका निमित्त नहीं हो सकता, क्योंकि कालकी भी सिद्धि तो उसीके अधीन है, अतः उसका भी वह उपजीवक है॥१॥

अविनाशी पुरुष चिन्मात्रस्वरूप रहे, इससे प्रकृतमें क्या आया ? इसपर कहते हैं—'तावन्मात्रम्' इत्यादिसे ।

तावन्मात्रं च पुरुषः कदाचित् स न नश्यति ।
यदि नश्यति चिन्मात्रं भूयो जायेत किं कथम् ॥ २ ॥
न चाऽन्यदन्यचिन्मात्रं क्वचित् किञ्चन कस्यचित् ।
सर्वानुभवसादृश्ये कीदृशी नाम साऽन्यता ॥ ३ ॥
सर्वस्यैव हिमं शीतमुष्णोऽग्निर्मधुरं पयः ।
चिन्मात्रस्याऽवदातस्य कीदृगन्यत्वमत्र तु ॥ ४ ॥

चूँकि पुरुष चिन्मात्रस्वरूप है, इसलिए कदापि वह नष्ट नहीं हो सकता । यदि चिन्मात्र नष्ट हो जाय, तो फिर क्या उत्पन्न होगा और कैसे उत्पन्न होगा ? ॥ २ ॥

यदि कोई कहे कि नाशके अनन्तर दूसरी चित् उत्पन्न हो जायगी, उससे पुनः सृष्टि होगी, तो इसपर कहते हैं—'न च' इत्यादिसे ।

हेश्रीरामचन्द्रजी, चिन्मात्रसे भिन्न कोई दूसरा चिन्मात्र किसी प्रकार कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि चिति तो एकमात्र अनुभवस्वरूप है, उसका पूर्व और उतरकालमें सर्वांशमें सादृश्य है । उसकी भला कैसी भिन्नता होगी ? अर्थात् वह अन्यता मिथ्या ही है ॥ ३ ॥ *

यदि कोई कहे कि पुरुषके भेदसे चित्का भेद होगा, तो उसपर कालभेदकी तरह पुरुषभेदसे भी चित्का भेद सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि हिम आदिमें शैत्य आदिकी तरह चितिमें भी किसीको विलक्षणताका अनुभव नहीं होता, ऐसा कहते हैं—'सर्वस्यैव' इत्यादिसे ।

जब सभी लोगोंको हिम शीतल है, अग्नि ऊष्ण है तथा दुग्ध मधुर है यों भासता है, तो फिर इस निर्मल चिन्मात्रमें ही भेद कैसे भासेगा ? ॥ ४ ॥

---

* भाव यह कि पूर्वकालकी चितिसे उत्तरकालकी चितिका भेद किंमूलक है ? क्या मध्यमें विच्छेदज्ञानसे उसकी कल्पना की जाती है या वह पहलीसे विलक्षण है, इसलिए भेदकी कल्पना की जाती है ? विच्छेदज्ञानसे वह अन्य नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव ही चित् है, अनुभव रहते विच्छेदकी सिद्धि नहीं हो सकती । पूर्व चित्से वह विलक्षण भी नहीं है, क्योंकि यदि विलक्षण मानी जाय तो 'अचित्' हो जायगी । पूर्व और उत्तरकालकी चित्में सर्वांशमें अनुभवकी समानता है, अतः वह भिन्नता (अन्यता) कैसी ? अर्थात् पूर्व और उत्तर चित्की भिन्नता मिथ्या ही है ।

शरीरनाशे नाशश्चेच्चिन्मात्रस्य तदुच्यताम् ।
हर्षस्थाने विषादः किं मरणे संसृतिक्षये ॥ ५ ॥
न च नाम शरीरस्य नाशे नश्यति चिन्नभः ।
देहे नष्टेऽपि बन्धूनां म्लेच्छैर्दृष्टा पिशाचता ॥ ६ ॥
यावच्छरीरसत्ता चेच्चेतनस्य तदुच्यताम् ।
शवः कस्मान्न चलति सत्यखण्डे शरीरके ॥ ७ ॥
पिशाचानुभवो जीवधर्मश्चेत्तत् स सर्वदा ।
किं न पश्यति किं बन्धौ मृते पश्यति तत्तथा ॥ ८ ॥
जीवधर्मो विशिष्टश्चेत्तादृशत्वं नरः कथम् ।
मिथ्या देशान्तरमृते पिशाचत्वं न पश्यति ॥ ९ ॥
तस्मात् सर्वात्मकं त्वेतच्चिन्मात्रं न नियन्त्रितम् ।
यद्यद्यत्र यथा वेत्ति तत्तत्तत्राऽनुगच्छति ॥ १० ॥

सुख-दुःखरूप विशेष ज्ञानके सिवा चैतन्य कुछ नहीं है । विशेष ज्ञानमें अवच्छेदकता सम्बन्धसे शरीर कारण है । शरीरका नाश होनेसे ज्ञानका नाश माननेवाले चार्वाक और वैशेषिकोंकी शङ्का उभाड़कर उसका निराकरण करते हैं—'**शरीर०**' इत्यादिसे।

शरीरके नाशसे ही यदि चिन्मात्रका नाश हो गया, तो मरणसे ही संसारका नाश हो गया, फिर हर्षकी जगह विषाद क्यों ? ॥ ५ ॥

शरीरका नाश होनेपर चिदाकाश कभी नष्ट नहीं होता । क्योंकि बन्धुओंका शरीर नष्ट होनेपर भी म्लेच्छों द्वारा उनकी पिशाचता देखी गई है ॥ ६ ॥

जबतक शरीर है तभी तक चेतनकी भी सत्ता है, यदि यह कहा जाय, तो यह कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अखण्डित शरीर रहनेपर भी मृतक क्यों नहीं चलता, इसका क्या उत्तर है ? ॥ ७ ॥

पिशाच देखना यदि जीवका धर्म है, तो फिर वह जीव सर्वदा पिशाच क्यों नहीं देखता । बन्धुके मृतक बन जानेपर ही क्यों देखता है ? ॥ ८ ॥

बन्धुमरणज्ञानविशिष्ट जीव है तथा पिशाचदर्शन उसका धर्म है, यदि ऐसा नियम हो, तो भी बन्धुके जीवित रहते ही मिथ्या देशान्तरमें उसकी कल्पित मृत्यु सुननेपर पिशाचताको मनुष्य क्यों नहीं देखता ॥ ९ ॥

इसीलिए चित्‌के भेद और विनाशका योग न होनेसे चिन्मात्र सर्वात्मक सिद्ध है,

अच्युतके उद्देश्य और नियम

उद्देश्य—

सनातन-धर्मकी उन्नति करनेवाले भगवान् श्रीशङ्कराचार्यके सिद्धान्तके अविरोधी लेखों एवं उत्तमोत्तम संस्कृत-ग्रन्थोंके भाषानुवाद द्वारा जनतामें ज्ञान और भक्तिका प्रचार करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम—

(१) 'अच्युत' प्रतिमास पूर्णिमाको प्रकाशित होता है।

(२) इसका वार्षिक मूल्य भारतके लिए ६) रु० और विदेशके लिए ८) रु० है। एक संख्याका मूल्य ।।) है।

(३) ग्राहकोंको मनीआर्डर द्वारा रुपये भेजनेमें सुविधा होगी। वी० पी० द्वारा मँगानेसे रजिस्टरीका व्यय उनके जिम्मे अधिक पड़ जायगा।

(४) मनोआर्डरसे रुपये भेजनेवाले ग्राहक महाशयोंको कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, अपना पूरा पता, नये ग्राहकोंको 'नये ग्राहक' और पुराने ग्राहकोंको अपना ग्राहक-नम्बर स्पष्ट अक्षरोंमें लिख देना चाहिए।

(५) उत्तरके लिए जवाबी पोस्टकार्ड या टिकट भेजना चाहिए।

(६) जिन महाशयोंको अपना पता बदलवाना हो, उन्हें कार्यालयको पता बदलवानेके विषयमें पत्र लिखते समय अपना पुराना पता तथा ग्राहक-नम्बर लिखना नहीं भूलना चाहिए।

व्यवस्थापक—

अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय,

ललिताघाट, बनारस।

Regd. No. A. 276

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।
यद्भद्रं तन्न आसुव ॥

प्रकाशक—व्यवस्थापक, अच्युत-ग्रन्थमाला-कार्यालय, काशी ।
मुद्रक—बी० के० शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, काशी ।